

धर्मायण

विषय - सूची

हनुमान-चालीसा की एक पाण्डुलिपि का विवेचन भवनाथ झा	2
धान की अधिष्ठात्री देवी : गोमाता स्व. कुमार गंगानन्द सिंह	9
श्री भक्तवर शंकर दासजी का जीवन चरित्र स्व. बाबू रामदीन सिंह	16
शिक्षा का प्राचीन भारतीय स्वरूप युगल किशोर प्रसाद	22
अब लौं नसानीं अब ना नसैहौं, भाग-4 मुरली	30
डॉ. उषा रानी	33
क्या, बस यही ज्ञान है? अवधेश मिश्र	36
एक संत की जीवन-यात्रा घनश्याम दास हंस	40
साधना डॉ. गणेश शंकर पाण्डेय	45
कृषि विज्ञान में ज्योतिषशास्त्र की भूमिका ज्योतिषाचार्य डॉ. राजनाथ झा	48
पञ्चगव्य बनाने की शास्त्रीय विधि	52
ईश्वरानुभूति	54
संस्कृत सीखें	57
आवासीय कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यशाला पुस्तक-समीक्षा	59

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखक के हैं। इनसे सम्पादक की सहमति आवश्यक नहीं है। हम प्रबुद्ध रचनाकारों की अप्रकाशित, मौलिक एवं शोधपरक रचनाओं का स्वागत करते हैं। रचनाकारों से निवेदन है कि सन्दर्भ-संकेत अवश्य दें।



SkankdA.100kPk

ArUk

अंक : 90

जुलाई-दिसम्बर, 2016

श्रावण-पौष, 2073

प्रधान सम्पादक

भवनाथ झा

अतिथि सम्पादक

श्री मगनदेव नारायण सिंह

महावीर मन्दिर प्रकाशन

के लिए

प्रो. काशीनाथ मिश्र

द्वारा प्रकाशित

तथा

प्रकाश ऑफसेट, पटना में मुद्रित

अक्षर संयोजक दिनकर कुमार

पत्र-सम्पर्क:

धर्मायण,

पाणिनि-परिसर,

बुद्ध-मार्ग,

पटना-800001

दूरभाष - 0612-3223293

E-mail: mahavirmandir@gmail.com

Web: www.mahavirmandirpatna.org

मूल्य : पन्द्रह रुपये

हनुमान-चालीसा की एक पाण्डुलिपि का विवेचन

भवनाथ झा

हनुमान चालीसा हनुमानजी की स्तुति के रूप में सम्पूर्ण देश में ख्यात रही है। न केवल उत्तर भारत अपितु दक्षिण भी वहाँ की स्थानीय लिपियों में इसका प्रकाशन होता रहा है। इसका महत्त्व इतना अधिक है कि अनेक प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए पुरश्चरण के रूप में इतना प्रयोग होता रहा है। इस पर अनेक भाष्य तथा विवेचन भी लिखे गये हैं। हनुमान् चालीसा के आधार पर जीवन प्रबन्धन पर भी पुस्तकें लिखी गयीं हैं। इन चालीस पक्तियों की यह छोटी-सी रचना अर्थवत्ता एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से बड़ा ही व्यापक है।

परम्परा इसे गोस्वामी तुलसीदास की रचना मानती रही है और परम पवित्र ग्रन्थ के रूप में इसे स्वीकार करती रही है। दूसरी ओर इसकी प्राचीनता पर संशय खड़े किये गये हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार लिखते हैं कि यह रचना गोस्वामी तुलसीदास की न होकर 17वीं शती के घट-रामायणकार तुलसी की रचना है। साथ ही कुछ इतिहासकारों का तो यहाँ तक कहना है कि इसकी कोई पुरानी पाण्डुलिपि भी नहीं मिलती है, अतः इसे प्राचीन रचना नहीं मान सकते हैं।

यहाँ पर हम इन विवादों में न पड़कर हनुमानचालीसा की एक प्राचीन पाण्डुलिपि प्रस्तुत कर रहे हैं। यह पाण्डुलिपि श्रीरघुनाथ मन्दिर, जम्मू के पुस्तकालय में उपलब्ध है। इसकी पाण्डुलिपि संख्या 5510 घ है और इसकी पत्र संख्या 5 है। इस पाण्डुलिपि पर एक अन्य संख्या 1019क दी हुई है, जो इसके अंतिम पृष्ठ पर रणवीर केन्द्रीय पुस्तकालय की मुहर के साथ भी उपलब्ध है। इसे ई-गंगोत्री डिजिटल प्रिजर्वेशन ट्रस्ट परियोजना के अन्तर्गत डिजिटाइज कर धर्मार्थ ट्रस्ट, रघुनाथ मन्दिर, जम्मू के द्वारा www.archive.org पर सभी पाठकों के लिए public domain के रूप में उपलब्ध करा दिया गया है। इस परियोजना के तहत इस पुस्तकालय की अनेक पाण्डुलिपियों को भी डिजिटाइज्ड किया गया है। इससे इन पाण्डुलिपियों पर शोध एवं उनके सम्पादन के द्वार खुल गये हैं। तिथिविहीन इस पाण्डुलिपि लिपिशास्त्रीय आधार पर 150 वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है। इस पाण्डुलिपि से सम्बद्ध सभी संस्थाओं के प्रति आभार प्रकट करते हुए इसे यहाँ सम्पादित कर धर्मायण के सुधी पाठकों के लिए एवं अग्रेतर शोध के लिए प्रकाशित किया जा रहा है।

इस पाण्डुलिपि में प्रचलित हनुमान चालीसा से पाठभेद भी है तथा अन्त में कुछ अलग पाठ है। भाषा की दृष्टि से यह वर्तमान प्रचलित पाठ से प्राचीन प्रतीत होता है तथा कई स्थलों पर वर्तमान पाठ से विशिष्ट पाठ भी है। इन विशेषताओं पर चर्चा करने करने के साथ यहाँ मूल पाण्डुलिपि की छाया भी प्रस्तुत है।

पाण्डुलिपि का पाठ-प्रचलित पाठ के अनुरूप अंश पाण्डुलिपि में नहीं है।

प्रचलित पाठ- श्रीगुरु-चरन-सरोज-रज, निज मन मुकुर सुधार ।

बरनौं रघुबर बिमल जस, जो दायक फल चार ॥

बुद्धिहीन तनु जानिकै, सुमिरौं पवन-कुमार ।

बल-बुधि-बिद्या देहु मोहिं, हरहु कलेस -विकार ॥

हनुमान चालीसा के प्रचलित पाठ में दो दोहे हैं, जो पाण्डुलिपि के पाठ में नहीं हैं। अतः इस अंश पर कोई अध्ययन संभव नहीं है।

पाण्डुलिपि का पाठ-ओं श्री गणेशाय नमः। ओं श्री रामाय नमः

ओं जय हनुमन्त ज्ञान गुण सागर। जय कपीश त्रिहु लोक उजागर॥1॥

राम दूत अतुलित बल धामा। अंजनीपुत्र पवनसुत नामा॥2॥

प्रचलित पाठ- जय हनुमान ज्ञान-गुण-सागर। जय कपीस तिहुँ लोक उजागर ॥

राम दूत अतुलित बल-धामा। अंजनि-पुत्र पवनसुत नामा ॥

इस चौपाई में दोनों पाठों में कोई अंतर नहीं है। हनुमान के बदले हनुमन्त का प्रयोग केवल ध्वनि की दृष्टि से अलग है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी हनुमन्त शब्द का प्रयोग बार-बार किया है।

पाण्डुलिपि का पाठ-महाबली विक्रम बजरंगी। कुमति निवारन सुमति के संगी॥3॥

कंचन वरन विराज सदेसा। कुंडल कान कंग है केसा॥४॥

प्रचलित पाठ- महाबीर बिक्रम बजरंगी। कुमति निवार सुमति के संगी ॥

कंचन बरन बिराज सुबेसा। कानन कुंडल कुंचित केसा ॥

इस अंश में 'कंग है केसा' में विशिष्ट अर्थ है। कंग शब्द का प्रयोग कवच, जिरहबरव्तर आदि अर्थ में होता है। हनुमानजी के मस्तक पर शिरस्त्राण होने का अर्थ यहाँ है। एक योद्धा के रूप में उनका शिर खुला हुआ नहीं होना चाहिए। 'कुंचित केसा' में केश के सौन्दर्य का वर्णन हनुमानजी के सन्दर्भ में करने का तात्पर्य है कि उनका केश दिखाई पड़ता है, जबकि उस पर मुकुट या शिरस्त्राण होना चाहिए। कवच के अर्थ में 'कंकट' शब्द संस्कृत में है, जिससे 'कंक' एवं 'कंग' दोनों शब्द बन सकते हैं। कंक शब्द का व्यवहार चंदबरदायी ने किया है- जुमज्जि कंक मज्जि कोन सार अंग षटयं।-चंदबरदाई।

पाण्डुलिपि का पाठ-हस्ति वज्र अरु धजा विराजै। कांधे मुंज जनेऊ साजे॥5॥

शंकर शक्ति केसरी नन्दन। तेज प्रताप महाजग बंदन॥6॥

प्रचलित पाठ- हाथ बज्र औ ध्वजा बिराजै। काँधे मूँज जनेऊ छाजौ ॥

शंकर स्वयं केसरी-नंदन। तेज प्रताप महा जग-बंदन ॥

इस अंश में शंकर स्वयं पाठ के स्थान पर शंकर सुवन पाठ भी प्रचलित है। दोनों पाठों से विशिष्ट पाठ शंकर शक्ति है, जिसमें स्पष्ट है कि हनुमानजी शंकर की शक्ति लेकर अवतरित हुए थे।

पाण्डुलिपि का पाठ-विद्यावंत निपट अति चातुर। राम भक्ति करबेकहु आतुर॥7॥

रामचरित्र सुनिबेकहु रसीया। राम लषमन सीता मन बसीया॥8॥

प्रचलित पाठ- विद्यावान गुनी अति चातुर। राम-काज करिबे को आतुर ॥

प्रभु-चरित्र सुनिबे को रसिया। राम-लखन-सीता मन-बसिया ॥

इस अंश में अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

पाण्डुलिपि का पाठ-सूक्ष्म वपुर सीया दिष(ख)रायो। बड़ो रूप धर लंका जरायो॥9॥

भीम रूप होइ असुर सिंघारे। श्री रामचन्द्र के कारज संभारे॥10॥

प्रचलित पाठ- सूक्ष्म रूप धरि सियहिं दिखावा। बिकट रूप धरि लंक जरावा ॥

भीम रूप धरि असुर सँहारे। रामचंद्र के काज सँवारे ॥

इस अंश में अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

पाण्डुलिपि का पाठ-रघुपति कीन बहु बड़ियाई। भरतहि तुल (तुम) प्यारो भाई॥11॥

सहस्रनाम गुण तुमरा गायो। श्री अपने मुष(ख) राम बनायो॥12॥

प्रचलित पाठ- लाय सजीवन लखन जियाये । श्रीरघुबीर हरषि उर लाये ॥
 रघुपति कीन्ही बहुत बड़ाई । तुम मम प्रिय भरतहि सम भाई ॥३॥
 सहस-बदन तुम्हरो जस गावैं । अस कहि श्रीपति कंठ लगावैं ॥
 सनकादिक ब्रह्मादि मुनीसा । नारद सारद सहित अहीसा ॥
 जम कुबेर दिगपाल जहाँ ते । कबि कोबिद कहि सके कहाँ ते ॥

इस अंश में प्रचलित पाठ में कुछ अधिक पक्तियाँ हैं।

पाण्डुलिपि का पाठ-तुम उपकार सुग्रीव का कीना। राम मिलाय राज तुम दीना॥३॥
 तुमरा मंत्र विभीषन माना। हुवा लंकपति सभ जग जाना॥४॥

प्रचलित पाठ-तुम उपकार सुग्रीवहिं कीन्हा । राम मिलाय राज-पद दीन्हा ॥
 तुम्हरो मंत्र बिभीषन माना । लंकेस्वर भए सब जग जाना ॥

इस अंश में अर्थ में कोई अन्तर नहीं।

पाण्डुलिपि का पाठ-लक्ष्य प्रमाण योजन जो भाना। जन्मतु ही सब जग जाना॥५॥
 कूद धसों मुष(ख) मेल्यो ताहि। जननि नाम किछु अचर नाही॥६॥

प्रचलित पाठ- जुग सहस्र जोजन जो भानू । लील्यो ताहि, मधुर फल जानू ॥
 प्रभु मुद्रिका मेलि मुख माहीं । जलधि लाँघि गये अचरज नाही ॥

यहाँ प्रचलित पाठ में सहस्र योजन तो अर्थ की दृष्टि से संगत है किन्तु यहाँ जुग शब्द यदि युग के अर्थ में है तो अर्थ की दृष्टि से अप्रासंगिक है, यदि जोड़ा अर्थात् दो के अर्थ में है तो सहस्र शब्द अनंतवाचक न होकर हजार संख्या का बोध कराने लगेगा। क्योंकि शत, सहस्र, लक्ष, कोटि आदि शब्द बिना संख्या के प्रयुक्त होने पर अनंत का अर्थ देते हैं जबकि इसके साथ यदि एक, दो आदि संख्या का प्रयोग हो तो अनंत अर्थ के स्थान पर निश्चित संख्या का बोध कराते हैं। अतः यहाँ दो हजार योजन दूरी का बोध होने लगेगा, जो उचित नहीं है।

इस अंश में दूसरी अर्द्धाली का अर्थ विवादित है। इसके अनुसार हनुमानजी ने प्रभु की मुद्रिका मुख में ले ली तो वह जूठा हो गया। इस विषय को लेकर अनेक विद्वानों ने अपने अपने सुझाव देकर अर्थ की संगति बैठायी है। जबकि पाण्डुलिपि का पाठ देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ सूर्य को मुख में लेने का प्रसंग है, जो माता का नाम लेने के कारण हनुमानजी के लिए दुर्गम नहीं था।

पाण्डुलिपि का पाठ-दुरजन काज सगल की जीते। सुगम अनुग्रह तुमरे तेते॥७॥
 राम द्वारा तुम रखवारा। विन अज्ञा ते होय मटिआरा॥८॥

प्रचलित पाठ- दुर्गम काज जगत के जेते । सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते ॥
 राम - दुवारे तुम रखवारे । होत न आज्ञा-बिन पैठारे । ॥

पाण्डुलिपि का पाठ-तुमरा भगत राम को पावै। जन्म जन्म के दुःख विसरावै॥९॥
 सभ सुख सहै तुमारी सरना। तुम रक्षक काह ते डरना॥१०॥

प्रचलित पाठ- सब सुख लहै तुम्हारी सरना । तुम रक्षक काहू को डर ना ॥
 आपन तेज सम्हारो आपै । तीनहुँ लोक हाँक तें काँपै ॥

पाण्डुलिपि का पाठ-दैत्य भूत किछु निकट न आवै। महावीर जब नाम सुनावै॥११॥
 नासै रोग हरै सभ पीरा। जषै निरंतर हनुमंत वीरा॥१२॥

प्रचलित पाठ-भूत-पिसाच निकट नहि आवै । महाबीर जब नाम सुनावै ॥
नासै रोग हरै सब पीरा । जपत निरंतर हनुमत बीरा ॥

पाण्डुलिपि का पाठ-संकटि ते हनुमंत छुड़ावै। मन वच कर्म जवी को ध्यावै॥23॥
होइ मनोरथ जो कोई ध्यावै। अनेक दृष्टि चितवत फल पावै॥24॥

प्रचलित पाठ-संकट ते हनुमान छुड़ावै । मन-क्रम-बचन ध्यान जो लावै ॥
सब पर राम तपस्वी राजा । तिनके काज सकल तुम साजा ॥
और मनोरथ जो कोई लावै । सोइ अमित जीवन-फल पावै ॥

पाण्डुलिपि का पाठ-चहुं जग मै प्रताप तुमारा। हो प्रसिद्ध जग उजआरा॥25॥
अधिक वेनती करो तुम पाही। होर वसी ला राखत नाही॥26॥

प्रचलित पाठ-चारों जुग परताप तुम्हारा । है परसिद्ध जगत उजियारा ॥
साधु संत के तुम रखवारे । असुर-निकंदन राम दुलारे ॥

पाण्डुलिपि का पाठ-सरन परो दया कर हेरो। महावीर मैं तेरो चरो॥27॥
पढै भ(जै ब)जरंग चालीस(1)। (ताको) काम बिसवे बीस(1)॥28॥
रोग सोक (ते) काया दहै। भै सागर ते तिर भै रहै॥29॥
जो दिन प्रति इह मन्त्र उचरही। मंगल दिन वृत्त पूजन करई॥30॥
आदित्यवार आदित्य की अरचा। धूप दीप चन्दन गंध चरचा॥31॥
मिष्ट अग्रधर इष्ट ध्यावै। भक्ति प्रभाव सुनिश्चय पावै॥32॥
दिन चाली नित नेम निवाहै। यक शत आठ बेर अवगाहै॥33॥
पंच सहस्र पंचमुख पूजै। तरपन हवन होर कर लीजै॥34॥
पुन पीछे इह मंत्र जो पढै। जो जाहुं सों मुख स्यों रढै॥35॥
सो सभ सत्य जु मन में धारई। उक ता सत्य हुकम सब करई॥36॥
इसहि मंत्र पढ रोग निवारय। छाया दृष्टि कष्टि संचारय॥37॥
कबहु न ताको दरिद्र परई। मंत्र यंत्र अर जो हत जरई॥38॥
परम प्रभाववंत नर सोई। जाके इष्ट पवनसुत होई॥39॥

प्रचलित पाठ- अष्ट सिद्धि नौ निधि के दाता।अस बर दीन जानकी माता ॥
राम-रसायन तुम्हरे पासा । सादर तुम रघुपति के दासा 2॥
तुम्हरे भजन राम को भावै । जन्म-जन्म के दुख बिसरावै ॥
अंतकाल रघुबर-पुर जाई । जहाँ जन्म हरि-भक्त कहाई ॥
और देवता चित्त न धरई । हनुमत सेइ, सर्व सुख करई ॥
संकट कटै मिटै सब पीरा । जो सुमिरै हनुमत बलबीरा ॥
जै जै जै हनुमान गोसाई । कृपा करहु गुरु देव की नाई ॥
जो सत बार पाठ कर कोई । छूटहि बंदि महा सुख होई ॥
जो यह पढै हनुमान चलीसा । होय सिद्धि साखी गौरीसा ॥

तुलसीदास सदा हरि-चेरा । कीजै नाथ हृदय-महँ डेरा ॥
 दोहा- पवनतनय संकट-हरन, मंगल मूर्ति रूप ।
 राम-लखन-सीता सहित, हृदय बसहु सुर भूप ॥

इति श्री हनुमानचालीसा समाप्तम् ॥

इस पाण्डुलिपि में पक्ति संख्या 28 के बाद खण्डित प्रतीत होता है। पक्ति संख्या 28 एवं 29 में चौपाई के छन्द के अनुरूप अक्षरों की संख्या कम है तथा इसी स्थल पर एक अर्धाली छूटी हुई लगती है, क्योंकि पूरे चालीसा में जहाँ चालीस अर्धाली होनी चाहिए वहाँ केवल 39 है। अतः यही अनुमान है कि इसी स्थल पर पक्तियाँ छूटी हुई हैं। जो दो पक्तियाँ हैं, वहाँ पाठोद्धार करने के क्रम में कुछ अक्षर जोड़ देने पर अर्थ पूर्ण हो जाते हैं। यहाँ ऐसे अंश को कोष्ठ के अन्तर्गत रखकर पक्ति पूर्ण की गयी है।

इसकी पक्ति सं. 6 में 'शंकरशक्ति केसरीनन्दन' पाठ बहुत उत्कृष्ट है। प्रचलित पाठ में शंकर सुवन केसरीनन्दन अथवा कुछ पाठ में शंकर स्वयं केसरी नन्दन पाठ उपलब्ध होता है। शंकर सुवन पाठ तो पौराणिक अवधारणाओं के विपरीत ही है, क्योंकि भगवान् शंकर के पुत्र के रूप में हनुमानजी की अवधारणा नहीं मिलती है। हाँ 'शंकर स्वयं' पाठ संगत है, क्योंकि हनुमानजी को रुद्रावतार माना गया है। प्रस्तुत पाठ में 'शंकर शक्ति' रहने से सभी शंकाओं का निराकरण हो जाता है।

पक्ति सं. 11 में भी दूसरी अर्धाली में अक्षरों की संख्या कम है, वहाँ 'तुम' शब्द जोड़कर पूर्ण किया जा सकता है। यहाँ केवल शोध के उद्देश्य से इस प्रकार का विवेचन उपस्थापित किया गया है।



या रामलक्ष्मणसीतामनवसीयास्त
 त्मवप्रसीयादिषरायो। यमैत्र्यपर
 लेकरायो। भीमत्र्यहोइप्रसरसिं
 चारे श्रीरामबेस्केकारजसभारे रघु
 पतिकीनवइवदियाई मरतहितले
 प्यारामाई सहसनामगणतमराया

ह
२
३

यो श्रीप्रयनेसषरसवनायो। तमउय
 कारसुग्रीकाकीना। राममिलायराज
 तमदीना। तमरासेत्रविभीषनमाना।
 इवालुकयनिसभगगजाना। लत्वप्र।
 माणयोमनमोमाना। नकातहोसव
 जगजाना। रुदथसोमषसेत्याता ॥

© Dharmarth Trust, JK. Digitized by eGangotri

हिजननिनामकिहुप्रवरताही ॥ उरज
 नकाजसगलकेजीते। सगमप्रनुप्रह
 तमरेनेते। रामहारातमरषवाराविन
 प्रजातेहोयमदिप्रारा। तमराभरातरा
 मकोपावे। जन्मजन्मकेइःखविसारा
 वै। समस्रावसहेतमारीसरना ॥ त

© Dharmarth Trust, JK. Digitized by eGangotri

ह
३
३

मरकककाहतेउरना। देत्यभतकिहुनि
 कटतआवे। मरुवीरजबनामसनावे
 नासेरागरहरेसभपीया। जेनिरंतरहनु
 मंतवीरासेकटितहउसेतकुशवे। म
 नववकर्मजवीकोप्यावे। होरमनोरथ
 जोकोप्यावे ॥ अनेकइहिवितवतकल

© Dharmarth Trust, JK. Digitized by eGangotri

पावे पंडितगमैवतापतसारा हो प्रसि
 इजगज्जआरा। अधिकवेनतीकरोत
 मयाही होरवसीलाराघतनाही सर
 नपरोदयाकरहेरो महावीरमैतेरोवो
 रो यहेमजरंगचालीसकामधिसवेवी
 स रोगसोगकायादहे भयसागरतेनि

© Dharmarth Trust, J.K. Digitized by eGangotri

ह
थ

रभेरेहे। जोदिनप्रतिरहमेउचरही से
 गलदिनवृत्तएनकरई। आदित्य।
 वारआदित्यकीअरवा। एपदीपवंदन
 गोधवारवा। सिद्धप्रधररह्यावे। मक्ति
 प्रभावस्तिअप्यावे। दिनचालीनितुने
 मनिवाहे। एकशतआठवरप्रवगाहे छं

© Dharmarth Trust, J.K. Digitized by eGangotri

यवसहस्वपंचमाले पूजे तरयनुहवन
 होरकरलीजे। पुनपीकेरहमेउजाय।
 के जोजाहंसोमस्यारके सोसभस
 त्यनुमनमेधरई उकतासनुइकमसव
 करई इमहिमंत्रयदयोगविवारे व्याया।
 दृष्टिकसिसठारे कबइनतीकादरि।

© Dharmarth Trust, J.K. Digitized by eGangotri

ने. २३४

ह
थ

इपरई मंत्रयेउप्रजोहउजरई। परम
 प्रभाववंतनरसोई जाकेरह्यवनस
 तहोई। शति श्रीहउमानचालीकामनामक



© Dharmarth Trust, J.K. Digitized by eGangotri

धरोहर

धन की अधिष्ठात्री देवी : गोमाता

स्व. कुमार गंगानन्द सिंह

कुमार गंगानन्द सिंह 1898-1971, जन्म, बिहार के बनौली राजपरिवारमें। स्वतंत्रता से पहले ये दरभंगा के राजा कामेश्वर सिंह के सचिव रहे तथा अनेक सामाजिक संस्थाओं से जुड़े रहे। स्वतंत्रता के बाद बिहार के शिक्षामंत्री बने तथा कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति के पद को भी सुशोभित किया। ये मैथिली, संस्कृत, अंग्रेजी एवं हिन्दी के अधिकारी विद्वान् थे। इनके अनेक पत्र, स्मारपत्र, भाषण, आदि का संकलन किया जा रहा है, जिससे 20वीं शती के पूर्वार्द्ध के सामाजिक एवं राजनैतिक स्थितियों पर प्रकाश पडता है। 1931 ई. में उन्होंने यह भाषण गोशाला के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिया था, जिसका प्रमुख संगत अंश यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। गोवध न केवल धार्मिक दृष्टि से निन्दनीय है अपितु दैनन्दिन जीवन में भी गाय की उपयोगिता इसे माँ के समान महनीयता प्रदान करती है। स्व. सिंह का प्रस्तुत भाषण गौ की महत्ता की ओर इशारा करता है। विद्वान् वक्ता ने प्रस्तुत भाषण में अपनी गहन अध्ययनशीलता का अपूर्व परिचय दिया है। प्रस्तुत भाषण इसलिए भी उपयोगी है कि इसमें गोवाचक शब्दों पर यास्क आदि वैयाकरणों का सुपुष्ट मन्तव्य दिया गया है। अस्तु, प्रस्तुत आलेख अत्यन्त ही मननीय एवं पठनीय है।

श्री गणेशाय नमः

गोभक्तों, साहित्य प्रेमियों एवं गोसाहित्य प्रवर्तकों!

अभ्यर्थना समिति की ओर से मैं हृदय से आपलोगों का स्वागत करता हूँ। दरभंगा गोशाला सोसाइटी की स्वर्ण-जयंती के शुभ अवसर पर आपलोगों का यह सम्मेलन एक प्रधान अङ्ग की पुष्टि करता है और इस हेतु अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यह बतलाने की आवश्यकता प्रायः नहीं है कि मानव जाति का सम्बन्ध गोजाति से अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आता है और गो-रक्षा आर्यजाति के लिये तो खासकर एक प्रधान कर्तव्य समझा गया है।

अवेस्ता एवं पहलवी साहित्यों के अनुशीलन से यह सिद्ध होता है कि गो जाति के प्रति आर्य जाति का यह भाव उस समय भी विद्यमान था। जब उसकी ईरानी शाखा भारतीय शाखा से पृथक् नहीं

हुई थी। 'गेउश उर्व' नामक देवता का उल्लेख अवेस्ता में है। पहलवी ग्रंथों में 'गोशुरून' के रूप में इसका अपभ्रंश पाया जाता है। इस शब्द का अर्थ 'सौँद की आत्मा' है। यहाँ तात्पर्य उस सौँद से है जिससे पारसियों के धर्मग्रंथों में प्रायः प्रत्येक निम्न श्रेणियों के जीव जन्तुओं तथा उद्भिदों का उत्पन्न होना वर्णित है। 'गोशुरून' प्रत्येक जन्तु की रक्षा करनेवाली समझी जाती है और इसी कारण इसके, तथा प्राणियों को संहारकारियों के नाशक, केरेसास्प, के बीच मैत्री रहने की बात उल्लिखित है। खासकर यह 'पवित्र वस्तुओं का एक मुख्य प्रवर्तक' गोवंश वृद्धि की रक्षा और पोषण करनेवाली देवी (शक्ति) समझी जाती है।

वेदों में तो अनेक स्थानों में, अनेक प्रकार से, गौ की चर्चा की गई है। गोधन श्रेष्ठ माना गया है। गौओं को बचाने के लिये लड़ाईयाँ लड़ी गई हैं। देवताओं से प्रार्थना की गई है कि गोवंश की वृद्धि

हो। ऋग्वेद कई स्थलों में विश्व के

साथ इसका रहस्यात्मक सम्बन्ध स्थापित किया गया है और अथर्ववेद में इसी रहस्य को वहाँ विस्तृत रूप में हम देखते हैं जहाँ (4-11) और भरण-पोषण करनेवाले तथा उत्पन्न करने की क्षमता से युक्त 'अनड्वान्' की चर्चा विश्व के सम्बन्ध में की गयी है। यह भी हम देखते हैं कि वैदिक काल में 'गो' शब्द से एक अर्थ नहीं अनेक अर्थ निकलते थे। ये

अर्थ केवल आलंकारिक नहीं, रहस्यपूर्ण भी थे। इससे उन अर्थों और गौ के बीच रहस्यमय सम्बन्ध रहना सूचित होता है यद्यपि 'गौ' का प्रारंभिक एवं व्यवहारात्मक अर्थ गौ ही है तथापि निघण्टु में (जिसमें वैदिक पर्याय शब्द वर्णित है और जिस पर यास्क ने निरुक्त में टिप्पणी की है) के इसके पर्याय शब्दों से पृथ्वी, आकाश, ज्योति, वाणी और गायक का बोध होता है। पिछले कोश-रचयिताओं ने तो इस शब्द के अर्थ की संख्या को और भी बढ़ाया है। उदाहरणार्थ हेमचन्द्र ने अपने 'अनेकार्थसंग्रह' में सूर्य, जल, नेत्र, स्वर्ग, आकाश, गौँ, ज्योतिशिखा, वज्र, पृथ्वी, तीर और वाणी का इस शब्द से व्यक्त होना बताया है। इनमें से प्रत्येक अर्थ की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका अनुसन्धान करना रोचक होने पर भी कठिन कार्य है। पर वैदिक संहिताकाल से ही पृथ्वी की कल्पना गौ के रूप में की गई है। अथर्ववेद अष्टम काण्ड के दशम मन्त्र में विश्वस्वरूप 'विराज' की चर्चा की गई है। उसकी प्रशंसा होती है। वह भिन्न श्रेणी के प्राणियों के यहाँ जाती है। अपने क्रिया के अनुरूप वस्तुओं को वे उससे दुहते हैं। प्रत्येक स्थल में, दूहनेवाले, बछड़े और दुहने के बर्तन की चर्चा की गयी है। उसके मनुष्य के पास जाने का वर्णन इस मंत्र के 24

'गो' शब्द से एक अर्थ नहीं अनेक अर्थ निकलते थे। ये अर्थ केवल आलंकारिक नहीं, रहस्यपूर्ण भी थे। इससे उन अर्थों और गौ के बीच रहस्यमय सम्बन्ध रहना सूचित होता है यद्यपि 'गौ' का प्रारंभिक एवं व्यवहारात्मक अर्थ गौ ही है तथापि निघण्टु में (जिसमें वैदिक पर्याय शब्द वर्णित है और जिस पर यास्क ने निरुक्त में टिप्पणी की है) के इसके पर्याय शब्दों से पृथ्वी, आकाश, ज्योति, वाणी और गायक का बोध होता है।

वें ऋचा में किया गया है जिसका अर्थ इस प्रकार है :-

“वह ऊपर बढ़ी; वह मनुष्यों के पास आई, मनुष्यों ने उसे बुलाया 'हे आनन्द को देनेवाली, आओ।' उसके बछड़े थे विवस्वन्त के लड़के मनु, पृथ्वी दुहने का बर्तन बनी थी, वेन के पुत्र पृथु की पुत्री पृथ्वी ने उसे दुहा और उससे उसने कृषि और अन्न दोनों दुहकर निकाला।”

इस मंत्र से उस कथा की उत्पत्ति हुई जो पौराणिक काल में अत्यन्त बृहत् रूप में देखने में आती है। विष्णुपुराण के प्रथम खंड के 13वें अध्याय में इस कथा का वर्णन किया गया। उसका क्रम यों है :-

वेन के पुत्र पृथु जब समस्त संसार के अधिपति हुए तब उनकी इच्छा हुई कि अपनी प्रजा के हेतु उन उद्भिदों को वे पुनः प्राप्त करें जो उससे पहले की अराजकता के समय समूल नष्ट हो गये थे। इस अभिप्राय से उन्होंने पृथ्वी पर धावा बोला। पृथ्वी गो का रूप धारण कर भागी और भागती-भागती समस्त देव लोक में घुमती रही। अन्ततोगत्वा वह परास्त होकर उनके पास आई और उनसे प्रतिज्ञा की कि अपने दुध से वह भूमि को उर्वरा करेगी। इस पर पृथु ने अपने धनुष से भूमि को समतल बनाया और

लाखों पर्वतों को उखाड़ फेंका। स्वयंभू मनु को बछड़ा बनाकर उसने पृथ्वी को दुहा और मनुष्यों के हित के हेतु अपने हाथों में उसका दूध निकाला। उसी से नाना प्रकार के अन्न और वनस्पति उत्पन्न हुए जिससे तब से सदैव मनुष्य जी रहें हैं। जीवन दान देने के कारण पृथु पृथ्वी के पिता बन बैठे और इसी कारण वह पृथ्वी (अर्थात् पृथु की कन्या) के नाम से पुकारी जाने लगी। इसके उपरान्त देवता, ऋषि, राक्षस, गन्धर्व, यज्ञ, पितृ, सर्प, पर्वत, वृक्ष, समुदायों ने अपनी अपनी श्रेणी के अनुरूप दुहने का बर्तन लेकर अपनी आवश्यकता के अनुसार दूध पृथ्वी से निकाला। अपनी-अपनी जाति के अनुकूल उनके बछड़े और दुहने वाले भी थे।

मत्स्य, ब्रह्म, भागवत और पद्म पुराणों में भी इस कथा की चर्चा और बृहत् रूप से की गई है। कहीं-कहीं इनमें कुछ विभिन्नताएँ पाई जाती हैं पर मुख्य कथा एक-सी है।

संस्कृत साहित्य में इस कथा का आश्रय बहुधा लिया गया है। खासकर विपत्ति के समय, देवताओं से सहायता माँगने के समय, किसी राजा या रानी को परामर्श देने के समय, पृथ्वी का गौ स्वरूप धारण करने का वृत्तान्त हमें कथाओं में मिलता है।

धन की अधिष्ठात्री देवी, श्री, राक्षसों को छोड़ जब देवताओं के पास आई थी, गौओं के शरीर में निवास करने को गई। गौओं ने पहले इस चंचला देवी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया पर पीछे उसके अनुनय-विनय से द्रवित होकर उसको आदृत करने की इच्छा से कहा- 'तुम आकर मेरे मल-मूत्र में निवास करो, ये दोनों पवित्र हैं।'।

इसी तरह अलङ्कार स्वरूप भी हमें ऐसे वाक्य मिला करते कि राजा को कोमलता से पृथ्वी को दुहना चाहिये जिससे कर पर्याप्त रूप से प्राप्त हो इत्यादि।

वाणी अर्थ 'गो' को कैसे दिया गया इसका उत्तर प्रायः दन्तकथाओं का आश्रय लेकर हम नहीं दे सकते हैं। प्रायः गो शब्द से गा (गाने के अर्थ में) तथा 'गिर' (वाणी के अर्थ में) की ध्वन्यात्मक समानता इसका कारण हो अथवा जिस प्रकार वाणी एक दैवी वस्तु है, एक पवित्र वस्तु है, उसी प्रकार की पवित्रता तथा दैवी अनुभूति गौओं के विषय में स्थापित करने के लिये इस अर्थ में यह शब्द का व्यवहार किया जाना प्रारम्भ हुआ हो।

पर महाभारत की रचना का काल आते-आते गौओं की उपकारिता तथा उसकी हत्या बन्द करने का भाव अत्यन्त प्रबल धार्मिक भित्ति पर अवस्थित हो गया। महाभारत में एक स्थान में कहा गया है (13.74.4) कि "वे सब जो गो की हत्या करते, गोमांस खाते, या गोहत्या होने देखते, नर्क में खड़ा करते और इतने वर्षों तक, जितने रोम उस वध किये गये गौ के शरीर में हो। अनुशासन पर्व के 69 से 82वें अध्यायों में गोदान का महत्त्व बतलाया गया है और उससे जो पुण्य होता है वह भी कहा गया है। ये सब धारणायें हिन्दुओं के हृदय में स्थान पाई हुई हैं और मुख्यतया इसी कारण से उन्हें गौओं के प्रति इतनी अधिक श्रद्धा है। उनके पवित्र समझी जाने का एक प्रधान कारण यह है कि उनके बिना कोई यज्ञ अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। उनके दूध और उससे निकाले गये हविष् से विश्व के प्राणी मात्र की पुष्टि होती है। वे स्वयं तो पवित्र हुई हैं, दूसरों को भी पवित्र करती हैं। उनसे निकले

पंचगव्य (अर्थात् दुध, दही, घी, गोबर, और गोमूत्र) मनुष्यों को पवित्र करने का सामर्थ्य रखते हैं। धार्मिक व्यक्तियों को आदेश दिया गया है कि गौओं के मलमूत्र को घृणा के भाव से न देखें। इस

महाभारत में अनुशासन पर्व के ८० वें अध्याय में वशिष्ठ का कथन है कि "गौएँ घी और दूध देती हैं। उनसे घी उत्पन्न होता है और घी से वे उत्पन्न होती हैं। वे घी की नदियाँ हैं। गौएँ हमारे घर सदा निवास करें। घी हमारे हृदय में सदैव रहा करता, हमारे मन में सर्वदा उनका वास है। गौएँ सदैव हमारे सामने रहतीं। गौएँ सदैव हमारे पीछे रहतीं। गौएँ सदैव हमारी चारों ओर रहतीं। मैं गौओं के बीच रहता। प्रातःकाल और सायंकाल जल से अपने को पवित्र कर मनुष्य को इन मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। इससे दिन भर में वह जो कुछ पाप किए रहेगा, उसे धो डालेगा।"

सम्बन्ध में (13, 82 में) महाभारत में एक कथा है कि धन की अधिष्ठात्री देवी, श्री, राक्षसों को छोड़ जब देवताओं के पास आई थी गौओं के शरीर में निवास करने को गई। गौओं ने पहले इस चंचला देवी के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया पर पीछे उसके अनुनय-विनय से द्रवित होकर उसको आदृत करने की इच्छा से कहा- "तुम आकर मेरे मल-मूत्र में निवास करो, ये दोनों पवित्र हैं।"

शतपथ ब्राह्मण (7,5,2,6) के अनुसार इन गौओं की माता सुरभि है। उसे प्रजापति ने अपने श्वास से उत्पन्न किया था। इसी के आधार पर महाभारत (13.77) में एक कथा इस प्रकार है :-

स्रष्टा दक्ष ने, उन प्राणियों के हेतु जिन्हें उन्होंने बनाया था, थोड़ा-सा अमृत पीया। वे अमृत पीकर संतुष्ट हुए। इसके उपरान्त उनके पेट से अत्यन्त वेग से चारों दिशाओं को सुगन्धित करता हुआ वायु निस्सरण होने लगा। उस वायु निस्सरण के फलस्वरूप एक गौ का जन्म हुआ जिसको वे सुरभि कहने लगे। अतएव सुरभि उनकी कन्या हुई और वह उनके मुख से निकली थी। सुरभि नामक गौ से अनेक गौएँ हुईं और वे जगन्माता समझी जाने लगी।

सुरभि का निवास-स्थान गोलोक है। वह भी स्वर्ग ही है। एक समय उसने इतनी घोर तपस्या की कि ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उसे अमर बना दिया और गोलोक में रहने का आदेश प्रदान किया, यद्यपि उसकी कन्याएँ मनुष्यों के बीच रहती थी। पर

महाभारत (3-102) के एक स्थान में सुरभि का रसातल में रहना और दिक्पालियों को उनकी कन्या होना बताया गया है। रामायण, महाभारत एवं पुराणों में गोलोक की चर्चा अक्सर की गई है। गोलोक एक अत्यन्त सुन्दर वैभव-सम्पन्न और आनन्दमय स्थान निरूपित किया गया है, और उसे केवल ऐसे ही व्यक्ति प्राप्त कर सकते हैं जो धार्मिक हैं, जो गोदान तथा गोपूजा करते हैं। महाभारत में अनुशासन पर्व के 80 वें अध्याय में वशिष्ठ का कथन है कि "गौएँ घी और दूध देती हैं। उनसे घी उत्पन्न होता है और घी से वे उत्पन्न होती हैं। वे घी की नदियाँ हैं। गौएँ हमारे घर सदा निवास करें। घी हमारे हृदय में सदैव रहा करता, हमारे मन में सर्वदा उनका वास है। गौएँ सदैव हमारे सामने रहतीं। गौएँ सदैव हमारे पीछे रहतीं। गौएँ सदैव हमारी चारों ओर रहतीं। मैं गौओं के बीच रहता। प्रातःकाल और सायंकाल जल से अपने को पवित्र कर मनुष्य को इन मंत्रों का उच्चारण करना चाहिए। इससे दिन भर में वह जो कुछ पाप किए रहेगा, उसे धो डालेगा।"

इसके उपरान्त उसी अध्याय में गोदान की महिमा तथा उसका पुण्य फल वर्णित है। फिर यह कहा गया है कि गौ की समानता करनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है और न होगी। अपने चर्म, केश, सींग, पुच्छ, दूध तथा चर्बी से वह यज्ञों का सम्पादन करती है। गौ के समान उपकारी दूसरा कौन हो सकता है? भक्तिपूर्वक सर झुकाकर मैं उसकी पूजा करता हूँ। वह भूत और भविष्य दोनों की माता है

और विश्व में जितने चराचर जितने जीव हैं सब में व्याप्त है।

फिर कितने ऐसे व्रत हैं जिसमें व्रती गौओं के बीच रहता है, उनके साथ गौशाला में सोता है और उनके साथ फिरा करता है। इसी व्रत का वर्णन कालिदास ने रघुवंश के द्वितीय अध्याय में राजा दिलीप के सम्बन्ध में किया है।

उपस्थित सज्जनो!

इससे आपको भली-भाँति विदित हो गया होगा कि गौ के प्रति किस प्रकार का धार्मिक भाव हमारे पूर्वजों के हृदय में स्थान पा चुका था। फिर जब हमारे सामने गोकुल के वे दृश्य आते हैं जिसमें आनन्द कन्द श्री कृष्णचन्द्रजी गौओं को चराते, गोपियों को लुभाते, दही-दूध की चोरी करते, राक्षसों से गौओं की रक्षा करते, तो हमारे हृदय में यह भाव उत्पन्न होता, धन्य है गौओं की पवित्रता और महत्ता जिसके साथ सहवास रहने के कारण पुरुषोत्तम सच्चिदानन्द भगवान् का भी सहवास दुर्लभ नहीं हुआ।

संस्कृत भाषा में गो-साहित्य की चर्चा करते हमें यह भूलना नहीं चाहिये कि प्राचीन ग्रन्थों में गोरक्षा तथा गो-चिकित्सा के भी अनेक विधान हैं। इस समय भी गृहस्थों को उनमें से अनेक उपायों की जानकारी है।

हिन्दी भाषा में भी गो-साहित्य का निर्माण इसी प्राचीन धार्मिक भित्ति पर होता आ रहा है। गौओं के प्रति हिन्दुओं का यह भाव अच्छी तरह प्रदर्शित किया गया है। गौ उसी तरह पवित्र एवं उपयोगी समझी जाती है जैसे पहले। गोहत्या के नाम से उनके रोंगटे अब भी उसी तरह खड़े होते हैं।

गोवंश का संहार देखकर, गौओं की दुरवस्था देखकर आज भी उनका कलेजा फटता है और भविष्य अन्धकारमय दीखता।

आधुनिक कविकुंजर वियोगी हरिजी के चुभते हुए पदों को देखिए :-

गो-धन, गो-वर्द्धन धरन, गोकुलेस, गोपाल!
रंगत- रंगत गो-रक्त सों, भई भूमि तुव लाल।।
लाल! तिहारी लाड़िली, तुव गोकुल को गाय।
कटति आजु गोपाल! हा! क्यों न बचावत धाय।।
चोरि-चोरि चाख्यौ जहाँ माखन, गोकुल-राज!
टुक, देखौ गो-रुधिर की बहति धार जहँ आज।।
गेरत हे, गोपाल ! तुम जहँ केसर धनसार।
टुक, देखौ तहँ आजु हरि! बहति गो-रुधिर-धार।।
दंडक-वन मुनि अस्थि लखि^१ दैत्य-दलन-प्रन-कीन।
देखत गो-वध नाथ! क्यों आजु मौन गहि लीन?

उसी प्रकार कवि मुकुटमणि मैथिलीशरणजी के विलाप को सुनिए :-

है औषि-प्रधान प्रसिद्ध भारत और औषि की यह दशा!
होकर रसा^२ यह नीरसा अब हो गई है कर्कशा।
अच्छी उपज होती नहीं है, भूमि बहु परती पड़ी;
गो-वंश का वध ही यहाँ है याद आता हर घड़ी!।।
यूरोप में कल के हलों से काम होता है सही,
जुत क्यों न जाती हो अरब में ऊँट के हल से मही।
गो-वंश पर ही किन्तु है यह देश अवलम्बित सदा,
पर दीन-भारत! हाय! तेरे भाग्य में है क्या बदा!।।
है भूमि बन्ध्या हो रही, वृष जाति दिन दिन घट रही;
घी दुध दुर्लभ हो रहा, बल-वीर्य की जड़ कट रही।
गो-वंश के उपकार की सब ओर आज पुकार है;
तो भी यहाँ उसका निरन्तर हो सहा संहार है ।।
वह भी समय था एक जो अब स्वप्न जा सकता कहा,
घी तीस सेर^३ विशुद्ध रूपये में हमें मिलता रहा!
देहात में भी सेर भर से अब अधिक मिलता नहीं!
दुर्बल हुए हम आज यों तनुभार भी झिलता नहीं!।।
दाँतों तले तृण दाब कर हैं दीन गायेँ कह रहीं

“हम पशु तथा तुम हो मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही हमने तुम्हें माँ की तरह है दूध पीने को दिया, देकर कसाई को हमें तुमने हमारा वध किया!। जो जन हमारे मांस से निज देह पुष्टि विचार के उदरस्थ हमको कर रहे हैं, क्रूरता से मार के। मालूम होता है सदा धारे रहेंगे देह वे

□ □ □ □

या साथ हीं ले जायेंगे उसको बिना संदेह वे !”।।

“हा! दूध पीकर भी हमारा पुष्ट होते हो नहीं, दधि घृत तथा तक्रादि से भी तुष्ट होते हो नहीं। तुम खून पीना चाहते हो, तो यथेष्ट वही सही नर योनि हो, तुम धन्य हो, तुम जो करो थोड़ा वही।।

“क्या वश हमारा है भला, हम दीन हैं, बलहीन हैं; मारो की पालो, कुछ करो तुम, हम सदैव अधीन हैं। प्रभु के यहाँ से भी कदाचित् आज हम असहाय हैं, इससे अधिक अब क्या कहें, हा! हम तुम्हारी गाय हैं।।

“बच्चे हमारे भूख से रहते समक्ष अधीर हैं, करके उनका सोच कुछ देती तुम्हें हम क्षीर हैं। चर कर विपिन से घास फिर आती तुम्हारे पास हैं, होकर बड़े वे वत्स भी बनते तुम्हारे दास हैं।।

जारी रहा क्रम यदि यहाँ यों हीं हमारे नाश का - तो अस्त समझो सूर्य भारत-भाग्य के आकाश का। जो तनिक हरियाली रही वह भी न रहने पायगी, यह स्वर्ण-भारत-भूमि बस मरघट-मही बन जायगी!।।

सज्जनों! पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि गोवंश के प्रति दया का यह भाव केवल हिन्दुओं के ही हृदय में मिलते हैं। भूपाल पुस्तकालय में बाबर बादशाह का एक फरमान मौजूद है, जिसमें बाबर ने गोहत्या को कानून से बन्द किया। अकबर के समय की किंवदंती है कि उसने नरहरि कवि के कवित्त से द्रवित होकर ऐसी आज्ञा निकाल दी कि

जो कोई गोहत्या करेगा उसे मृत्युदण्ड दिया जाएगा। कवित्त यो है :-

तृण जो दंत पर धरहिं।
तिनहि मारत न कवल कोई।।
हम नित प्रति तृण चरहिं।
वैन उच्चरहिं दीन होई।।
हिन्दुहि मधुन न देहि।
कटुक तुरकन न पिलावहिं।।
पय विशुद्ध अति सवहि।
वच्छ महिं थम्बन जावहिं।।
सुन शाह अकबर कारज यह।
करत गौ जोरो करन।।
से कौन चूक मोह मारियत।
मुये चापत सेवहुं चरन।।

फ्रांसीसी यात्री डाक्टर वर्निअर के भ्रमण वृत्तान्त से ज्ञात होता है कि जहाँगीर ने एक बार पशुओं की कमी के कारण गोहत्या को बिल्कुल बन्द कर दिया था।

मोहम्मदशाह एवं शाहआलम के फरमानों से पता चलता है कि उनलोगों ने भी अपने राज्य में गोहत्या बंद कर दिया था।

जहाँ तक पता चलता है मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थों में भी गोहत्या न करने का ही आदेश है। उनकी दृष्टि से धार्मिक ग्रन्थों में भी गोहत्या न करने का ही आदेश है। उनकी दृष्टि से गाय को मारनेवाला, वृक्ष को काटने वाला और शराब को पीनेवाला नहीं बख्शा जाएगा। (सुर-ए-थासीन)

इसाईयों के धार्मिक मतानुसार भी हत्या करना वर्जित है। पर प्रायः गौओं के सम्बन्ध में कोई खास उल्लेख नहीं है। आधुनिक काल में ईसाई देशों में बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार गो पालन, गो चिकित्सा एवं गो रक्षा के सम्बन्ध में हुए हैं और व्यावसायिक साहित्य का निर्माण भी हो रहा है। इस प्रकार के साहित्य की रचना हिन्दी भाषा में भी होने लगी है पर अब भी हमें इस क्षेत्र में बहुत कुछ काम करना है।

सज्जनो ! इस सम्मेलन का एक प्रधान कर्तव्य यह होगा कि किसी ऐसी प्रणाली का अवलम्बन करे जिससे उपयोगी गोसाहित्य का प्रचार देश में हो। बिना इस प्रकार के साहित्यिक प्रकाश के हम गोपालन एवं गोरक्षा सम्बन्धीय विषयों को आच्छादित करनेवाले तिमिर का नाश नहीं कर सकते।

सन्दर्भ

1. अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया।।
जानतहू पूछिय कस स्वामी। सबदरसी तुम अंतरजामी।।
निसिचर-निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुनाथ नयन-जल छाये।।
निसिचर-हीन करउँ महीं भुज उठाइ पन कीन।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाय-जाय सुख दीन।।(रामचरित मानस)
2. रसा = पृथ्वी ।
3. अलाउद्दीन खिलजी का हाल लिखते हुए राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द कहते हैं :- “तवारीख फरिस्ता में लिखा है कि उस वक्त दिल्ली में अब के हिसाब से एक रूपये का दो मन गेहूँ बिकता था और पौने चार मन जब, सात सेर मिसरी थी और तीस सेर का घी।”
(इतिहास तिमिरनाशक, पहला खण्ड पृ. 26)



Village and Pagoda below Panna Aerial, on the Ganges

धरोहर

श्री भक्तवर शंकर दासजी का जीवन चरित्र

स्व. बाबू रामदीन सिंह

बिहार सदा से महर्षियों, सन्तों, समाज सुधारकों, भक्तों एवं विद्वानों की भूमि रही है। अतीत में महात्मा बुद्ध एवं महावीर जैन इसी भूमि के सपूत रहे हैं। यही स्थिति आधुनिक काल में भी रही है। यहाँ 17वीं शती से 19वीं शती तक गुरु गोविंद सिंह, कविराज चंदन राम, राजा नारायण मल्ल देव बहादुर, बाबू हित नारायण सिंह आदि अनेक ऐसे जमींदार, भक्त, कवि, विद्वान् हुए हैं, जो हमारे समाज के निर्माता के रूप में एक आदर्श पुरुष रहे हैं। ऐसे 24 प्रेरणा-पुरुषों की जीवनी पर एक पुस्तक की रचना हुई थी, जिसका द्वितीय संस्करण सन् 1883 ई. में खड्गविलास प्रेस छापाखाना, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ था। आनरेबुल बाबू भूदेव मुखोपाध्याय के आदेश पर 'क्षत्रिय' पत्रिका के संपादक एवं रेपुरा के तालुकदार बाबू रामदीन सिंह ने 'बिहार दर्पण' नामक इस पुस्तक का संपादन किया था। 312 पृष्ठों की इस पुस्तक में उन व्यक्तियों का जीवन-वृत्तान्त, रचना एवं उनसे सम्बद्ध विषयों का विस्तार से विवेचन किया गया है।

'धर्मायण' के इस अंक में श्री भक्तवर शंकर दास के प्रेरणाप्रद चरित का पुनः प्रकाशन किया जा रहा है। इसमें भाषा हू-बहू रखी गयी है, किन्तु वर्तनी में किंचित् संशोधन कर उसे आज की हिन्दी के निकट बनाया गया है। भक्तवर शंकर दास (पृ. 143-160 तक)की अनेक रचनाएँ भी मूल में प्रकाशित हैं, जिन्हें विस्तारभय से यहाँ छोड़ दिया गया है। यह संपूर्ण पुस्तक वर्तमान में books.google.co.in पर Dehar durpan के (अशुद्ध) नाम से उपलब्ध है। जिज्ञासु पाठक इसे वहाँ से निःशुल्क डाउनलोड कर पढ़ सकते हैं।

इनका मकान परगना गोआ मौजे इसआपुर में है। इनके पिता का नाम पण्डित सोभा चौबे था। ये जाति के कनौजिया (कान्यकुब्ज) ब्राह्मण थे। इनका जीवन चरित्र "रसिकप्रकाश भक्तमाल" में विस्तारपूर्वक लिखा है। इसलिये यहाँ थोड़ा-सा लिखा जाता है।

(1. चतुर्वेदी से चौबे बना है जैसे त्रिवेदी वा त्रिपाठी से (तिवारी तिवाडी वा तिवाड़ी) और द्विवेदी से दूबे बना है ऐसे ही चतुर्वेदी से चौबे बना है अर्थात् चारो वेदों के पढ़नेवाला ब्राह्मण।)

शंकर चौबे द्वारिकादि तीर्थयात्रा करने के लिये घर से चले थे पर किसी कारण मे लौटकर घर पर चले आये। यहाँ कुछ दिन रहने के बाद कुछ भाषा पढ़ा। इनकी बुद्धि बड़ी तेज थी, कहते हैं कि तुलसीदासकृत "मानसरामायण" और "गीतावली"

"दोहावली" "कवितावली" (कवित्त-रामायण) "बरे रामायण" "विनयपत्रिका" "छंदावली" "सतसई" "रामशलाका" 'हनुमानबाहुक' 'जानकीमङ्गल' "पार्वती-मङ्गल" 'रोलाकन्द' "झूलना" "कृष्णावली" "राम शकुनावली" आदि की कंठस्थ किये थे और संस्कृत में 'गीत-गोविन्द' 'वाल्मीकि रामायण' 'श्रीमद्भागवत' भी इनकी कण्ठ था। लोग कहते हैं कि लड़कई में "मानस रामायण" और 'दोहावली' याद करके बेप्रयास दोहा चौपाई बनाने लगे। एक दिन किसी विद्वान् ने यह श्लोक इनके सामने पढ़ा।

श्लोक-

उद्यमं साहसं धैर्यं बलम् बुद्धिः पराक्रमः।

षडेते यस्य विद्यन्ते तस्माद्देवोपि शङ्कते।।।।।

यह सुनकर इन्होंने कहा कि इस श्लोक का

अर्थ क्या है? तब उस विद्वान् ने कहा कि उपाय और साहस, धीरज और बल, बुद्धि और पराक्रम ये छः जिस में दृढ़ होते हैं उस मनुष्य से ईश्वर भी शङ्का करता है। इस श्लोक का यही अर्थ है। इसपर शंकर चौबे ने जल्द यह दोहा बनाकर पढ़ दिया।

दोहा-

उद्यम साहस धैर्य बल, बुद्धि पराक्रम जाहि।

ये छः जेहि उर बसत है, देव शंकर कर ताहि।।।।।

तब उस विद्वान् ने अपने जी में सोचा कि यह लड़का तो बहुत भारी कवि और पण्डित होगा क्योंकि जब लड़काई में यह हाल है तो आगे क्या करेगा फिर सोचा कि शायद किसी ने इस दोहे को पहले ही बनाया हो और भी तो श्लोक पढ़कर उसका अर्थ कहें देखें यह दोहा बनाता है या नहीं फिर उस ने इस श्लोक को पढ़ा-

मातरम्पितरं पुत्रं भ्रातरं च गुरुन्तथा।

लोभाविष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सुतोत्तमम्।।।।।

जब शंकर चौबे ने इस श्लोक को सुना तब उसने इन्हें कहा कि इस श्लोक को दोहा में बनाओ शंकर चौबे ने नम्रतापूर्वक कहा कि इस श्लोक का अर्थ मुझे नहीं मालूम होता। अगर आप कृपाकर इस दीन जन को बता दीजिये, तो मैं आपको गुरु मानूंगा और फिर मुझसे जो कुछ बन पड़ेगा कह सुनाऊंगा।

तब उसने कहा कि तुम संस्कृत जानते हो या नहीं? इन्होंने कहा- नहीं। तब उसने कहा कि दोहा कैसे बनाते हो और एक शब्द के प्रतिनिधि दूसरा शब्द कैसे रखते हो? तब इन्होंने कहा कि मैं संस्कृत नहीं जानता हूँ, पर श्रीमत् गोस्वामी तुलसीदास कृत ग्रन्थों का अर्थ मैंने पढ़ा है, उसीकी सहायता से दोहा बनाता हूँ तथा उसने कहा इस श्लोक का यह अर्थ है "मनुष्य लालच से अपने मा, बाप, लड़के भाई, गुरु, मित्र और मालिक को भी मार डालता है।

फिर कहा, अब इसका दोहा बनाओ। इन्होंने ने शीघ्रता से यह दोहा कहा-

दोहा-

लालच बस जननी सनक, पुत्र भ्रात गुरु जान।

मित्र स्वामी को बधत हैं, अस कह नीति सुजान।।

यह चालाकी देखकर उस विद्वान् ने कहा यदि तुम पढ़ते, तो इस संसार में एक ही होते, और मैं क्या कहूँ, तुम्हारा लक्षण देखने से मालूम होता है कि तुम बड़े प्रसिद्ध विद्वान् बुद्धिमान कवि होगे क्योंकि आजतक मुझे ऐसे चालाक लड़के देखने ही में न आये। इस बालावस्था में जब इतनी बुद्धि और बोलचाल सुधरी है, तो आगे तुम्हारी बुद्धि बहुत बढ़ेगी पर मेरी यही राय है कि तुम संस्कृत पढ़ो। पढ़ने में क्या फल होगा यह जब पढ़ जाओगे तो आप ही आप मालूम हो जायगा पर देखो विना विद्या के मनुष्य पशु के बराबर हैं। विद्या बहुत उत्तम वस्तु है, इससे मनुष्य नामी हो जाते हैं। व्यास, वसिष्ठ, गौतम, अंगिरा, कणाद, आदि का नाम इसी विद्या से हुआ है, विद्या से वंश भी उजागर हो जाता है देखो व्यास कौन थे। बड़े-बड़े राजदरबारों में पहुंच हो जाती है। विद्या मनुष्य का परम सुन्दर अटल धन, इस में धन, धर्म, विनय, यश और प्रतिष्ठा बढ़ती है इस के समान और कोई हितकारी वस्तु नहीं। यह सदा देश परदेश में साथ रहती और हित की बातें बतलाया करती है, इसे कोई छीन नहीं सकता, यह..... को देने से बढ़ती है सब देशों में मनुष्यों की बुद्धि होने का यही असल कारण है। यह जाति और देश दोनों को बढ़ाती है, गुनी को सब लोग मानते और उन में अच्छी-अच्छी बातें पूछा करते हैं, विद्या का चाव कम होने पर लोग मूर्ख को आते आपस में प्रेम घट जाता, विश्वास उठ जाता बैर बढ़ता महीयता कम हो जाती, कारोबार घट जाते, लोग दुखी हो जाते अन्य अवस्त्र नहीं मिलते, इस लिये ऐसी उत्तम बात के

उपारजन में आलस बहुत बुरा है, विद्या अनेक भाँति की है उनमें से किसी एक विद्या के सीखने से मनुष्य अपने जीवन भर कुटुम्ब सुखी रह सकते हैं, तात्पर्य यह है कि सदा सुख देने वाली विद्या की है उने तुम जी लगा कर पढ़ो। सच्च है-

दोहा-

भू-भूषित भूपाल सों, नखत सभूषण चन्द।

नारि भूषण हे पती, विद्या सबहिं कोविन्द।।

कू०

विद्या नर वो रूप, प्रगट विद्या सुगुप्त धन।

विद्या सुख यश देत, संग विद्या सुबंधु धन।।

विद्या सदा सहाय, देवता इ विद्या यह।

विद्या राखत मात्र, लसत विद्या को कविजन चाहत
विद्या विहीन सो होत नर, जगत बीच पशु सम
चरत।।

अर्थात् विद्या मनुष्य की अतुल कीर्ति का हेतु और कृपा हुआ धन है विद्या सुख को देती और दूसरे मनुष्यों को वश में लाती है विद्या सब मे उत्तम गिनी जाती विदेश में निवाह करती आर राजाओं में मान कराती है इसी से लोग जो विद्या रहित हैं चौपायों के तुल्य हैं।

श्लोक :

ये बालभावे न पढ़न्ति विद्या

ये द्रव्यवन्तः खलु धर्माहीनाः।

ते शोचनीया इह लोकलोके

मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति।।

अर्थात् जो मनुष्य वाल्यावस्था में विद्या नहीं सीखते और जो धनवान् होकर धर्म नहीं करते इस लोक में मनुष्य का स्वरूप धरे पशुओं के समान हैं और शोक के पात्र हैं।

श्लोक-

येन केनाप्युपायेन परेण शुभमिच्छता।

त्यक्त्वा सर्व विधेयो वै गुणविद्योपसंग्रहः।।

अर्थात् जो मनुष्य शुभ कीर्ति और भलाई चाहता है सब काम छोड़ वे केवल गुण और विद्या ही को सीखता है।

कहते हैं कि शंकर चौबे के मन में यह बात बहुत पसन्द आई परन्तु शंकरदास ने अपने पिता से पूछा कि मैं पढ़ने जाऊँ तब उसने कहा कि तुम यहां पर खेती बारी का यजमान के काम को देखो पढ़कर क्या होगा क्या संसार में सब लोग पण्डित ही हैं भाषा पढ़ लियो यही बहुत है पढ़ने से धन नहीं होता है कहावत परिसर है कि “पढ़े फारसी वेंचे तेल देखो की कुदरत की खेल” शंकर चौबे ने अपने मन में सोचा कि अपने पिता को कुछ बोध कराना बहुत अच्छी बात है फिर सोचा कि पुत्र का धर्म है कि पिता की आज्ञा में रहे परशुराम, राम, ययाति, पुत्र (गुरु) भीमदेव (देवव्रत) आदि पिता की आज्ञा मानने से प्रसिद्ध हुए इस लिये खंडन करना अच्छा नहीं है। फिर उस विद्वान ने देखा कि शंकर चौबे तो कहीं पढ़ने नहीं गया यह बात अच्छी नहीं हैं तब उसने सोभा चौबे से कहा कि शंकर चौबे को पढ़ने के लिये बनारस भेज दो उसने कहा कि पढ़कर क्या होगा अपने यजमानों के काम चलाने लायक तो पढ़ ही लिया है, फिर उसने कहा कि पढ़कर पण्डित हो जायगा तो बहुत कुछ रुपया पैसा पैदा करेगा फिर सोभा चौबे ने कहा कि माना कि पण्डित हो जायगा धन पैदा करेगा पर इस में क्या मेरे यहां तो काई धनवान नहीं हुए जैसे सब लोक हैं वैसे मैं भी रहूंगा फिर उस विद्वान ने बड़ी नम्रताई से कहा कि भाई जीवन धन बिना वृथा है, तब सोभा चौबे ने कहा, यह तो ठीक कहते हो। तब उस विद्वान् ने कहा देखो संसार में धन की महिमा प्रत्यक्ष है। धनवान को सब अच्छा बताते हैं। धन ही से सब काम होते

हैं इस से मालूम होता है कि धन बहुत उत्तम वस्तु है, गृहस्ती के सब काम प्रायः इसी से निकलते हैं और इसके एक फर से सब कोई अपना निर्वाह करते हैं। संसार में व्यापार मूल धन है। इसके बिना लोग दरिद्र अथवा कंगाल कहलाते हैं कंगाल का क्या घर क्या बाहर कहीं आदर नहीं होता, हां जाता वहां हलका समझा जाता है। धन बिना हित अनहित हो जाते अपने पराये का सा व्यवहार करने लगते हैं बोलने पर लोग चिढ़ उठते या कनल बनाने लगते हैं चारों दिशा अन्धेरी लगती बुद्धि मन्द हो जाती, मन उदास रहता परिचय वाले सामने आने पर मुंह फेर लेते, बात नहीं पूछते, भला काम नहीं बन पड़ता, इच्छा कभी पूरी नहीं होती जो सदा लजाया करता है पढ़ना आने पर बहुत ही लल्ला होती, समाज में सदा सिर नीचा रखना पड़ता है। यथार्थ में कुटुम्बी को बिना धन बड़ा कष्ट होता है। धन से अपने और परायेका दोनोंके काम निकलते हैं धन से मनुष्य चतुर कुलीन और नामी समझा जाता है इस में बहुत से दोष पच जाते लोग सदा धनी का आसरा करते और मुंह देखा करते हैं। धन से सुख की सब सामग्री मिलती है, देश परदेश सब जगह इस से सुपास मिलता है इस लिए ऐसी उपकारी वस्तु के उपारजन में सदा परिश्रम करना उचित है किसी के पास जाकर कुछ मांगना बुरा है। मांगने के समय मनुष्य हल को हो जाता और काम भी उसका उससे नहीं निकलता, अपने परिश्रम के कमाकर खर्च करना ठीक है, इत्यादि बातें जब उस विद्वान् ने कहा तब सोभा चौबे ने खुश होकर शंकर दास को बनारस में पढ़ने के लिये भेजा।

दोहा-
वय विद्या तप ज्ञान के, अहैं वृद्ध चे चार।

तेउ अर्थ बस है गड़े, रहैं धनी के हार।।।।

कुण्डलिया-

टका धरम अरू करम है, टकही संशय नाहि।

जाके घर मीं नहि टका, टका टको खगि जाहि।

टकाटकी लगि लाहि कीज नहि पूछत ताके।

कैसी पण्डित होय, अवश्य धनी मुझ ताके।।

कहै बिहारो विग्र, करहु रही मत पक्का।

सुकरम से यदि होस, बटोरहु टक्कहि टका।।2।।

जाके धन सो कुलीन है, सोई पण्डित आहि।

गुणी वाहि को जन कहैं, लक्ष्मी जाके पाहि।।3।।

+ + + +

शंकर चौबे ने अपने परिश्रम के द्वारा बहुत जलद संस्कृत विद्या पढ़ ली पर इन को विशेष ग्रन्थों के देखने की इच्छा थी इस कारण वे वहाँ बहुत दिन रह गये और बड़े-बड़े प्राचीन ग्रन्थों को देख गये और शास्त्री की पदवी भी पाई फिर अपने घर पर आकर अपने पिता के पास हाजिर हुए।

इनकी विद्या की प्रशंसा सुनकर पास-पास के बहुत लोग इनको चाहने लगे और इन्हींने बहुत कुछ पैदा भी किया सच्च है।

श्लोक-

गुणेनैव मनुष्याणामादरो भुवि जायते।

यथा दीपत्वा श्मनान्पधे मणेस्तु बहुमौल्यता।।

अर्थात् मनुष्य का आदर सम्मान जगत् में गुण ही में होता है जैसे पत्थरों के बीच मणि का मोल केवल दीप्ति से ही अधिक होता है।

मन होता है मुनन तें, गुन बिन मान न होय।

सुक सारी पाले सबी, काग न पाले कोय।।।।।

गुण वारे सम्पत्ति लहै, गुन बिन लहै न कोय।

काढ़े नीर पताल सों, जौ गुन युत घट होय।।2।।

इस बात ने सोभा के मन को बहुत बढ़ाया और इन की विद्या के प्रताप से बहुत कुछ सुख पाये।

संयोग से शंकर चौबे के देह में कोढ़ की

बीमारी हो गई तब यह चिरान में आकर गंगा सेवन करने लगे और गंगा के वर्णन में बहुत कबिता की। बराबर गंगाजी में नहाते और गंगा का रट लगाते थे और खान पान शुद्धता से करते थे, इसे कुछ बीमारी थम गई। पर देह में कीड़ा भी पड़ गया था जो कीड़ा घाव में से गिर पड़े उसे ये उठाकर घाव में ही रखते थे और रात दिन रघुनन्दन राज किशोर का भजन रकते थे। और कहते थे कि 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा जो जस करै सो तस फल चाखा।' जैसा काम वैसा परिणाम है अर्थात् जैसा किया है वैसा फल पाता हूँ। इसमें कुछ सदेह नहीं है ईश्वर इच्छा में साल दो साल के बाद कोढ़ की बीमारी छूट गयी तो यह अपने घर पर आये और अपना ब्याह किये कुछ दिन के बाद एक लड़का पैदा हुआ नाम उसका इन्होंने जीवाराम चौबे रखा। वे बड़े पण्डित कवित्त भजनानन्द हुए। रसिकप्रकाश भक्तमाल इन्हीं का बनाया है और पद में अपना नाम जुगलप्रिया रखा है। महाराज राम कृष्णदेव बहादुर ने इन्हीं में भक्तित तत्त्व पाया था और जी-जान से इनको मानते थे।

जीवा राम चौबे के नामकरणादि संस्कारों के बाद उनको पढ़ाना शुरू किया। कुछ दिन के बाद शंकर चौबे को एक लड़का और हुआ। तब ये इसुआपुर से कोस भर के लगभग, एक गांव 'अगवथ' में आकर रही लगे और कुछ दिन के बाद अपने परिवार समेत आकार अगथवर में रह गये। शंकर चौबे की विद्या देखकर सारन, मुजपफरपुर, चम्पारण, और पटने के जिले के लोगों ने इनके शिष्य होना विचार किया। ये विचारे इस काम से बहुत डरते थे पर लोग इनके शिष्य किसी न किसी प्रकार से हुए तभी से आज तक गांव मे अधिक के लोग इनके शिष्य हैं। जिससे इन दिनों उनके घरवालों की जीविका निर्वाह होती है।

शंकर चौबे जब अपने काम धंधा से छुटी पाने तथा अपने समय को शास्त्र की चर्चा में बिताने

से यह रात दिन में केवल पहर भर सोते थे और अपना काम मधाकर साधारण लोगों के उपकारार्थ सीधी बोली में भजन बनाते थे।

'राममाला' नामक एक ग्रन्थ इन्होंने बनाया जिस में एक सौ आठ खण्ड है और प्रत्येक खण्ड में एक सौ आठ भजन है, अर्थात् संपूर्ण पुस्तक में 1964 भजन है। इस पुस्तक में साधारण लोगों से उपकारार्थ अच्छे-अच्छे विषय रखे हैं। इसके सिवाय शिव, शिवा, गंगा, जमुना आदि के माहात्म्य में बहुत भजन, कवित्त, सवैया, कूंद, सोरठा, दोहा, चौपाया पादाकुली आदि बनाया है।

शंकर चौबे वृद्धावस्था में घर का काम काज बड़े बेटे जीवाराम को सौंप चिरान में चले आये और गंगा-सरयू के संगम पर रहने लगे और हरि भजन करने लगे। इसलिये यहां वाले अर्थात् चिरान वाले उन्हें अब शंकर दास कहने लगे। तब से ये शंकर चौबे के बदले शंकर दास कहलाने लगे।

लोक कहते हैं कि एक बार शंकर दास सरजू (सरयू वा देवा देवहा वा घाघरा घर्घरा, घघरा) नदी में नहाकर अपने स्थान पर आते थे। तो एक मुसलमान ने खैनी खाकर थूक फेंका। वह थूक इन पर पड़ गया इसलिये ये विचारे जाकर फिर नहाये। यह हाल देखकर उस दुष्ट मुसलमान ने फिर इनके देह पर थूक दिया। ये जाकर फिर नहाये। इसी प्रकार से ये नहाकर आते और वह इनके देह पर थूक देता जब सैतीस बार हो गया और बिना क्रोध किये ये नहा के चले आते थे और फिर उसने इनके देह पर थूका जब फिर से नहाने को चले, तो वह मुसलमान इनके पांव पर गिर पड़ा और कहा कि मेरा अपराध क्षमा हो मैं बहुत बड़ा अपराधी हूँ। इन्होंने कहा कि आपका अपराध क्या? आपकी कृपा से तो मैं परम पुनीत सरयू नदी में 37 बार नहाया। इसपर उस मुसलमान ने कहा कि महाराज मैं बड़ा अपराधी हूँ। अपराध क्षमा हो। शंकर दास ने कहा कि भाई

अपराध तुमने तो कुछ किया नहीं, क्षमा क्या करें। अच्छा यदि अपराध किये होंगे तो भी मुझे मालूम नहीं कि क्या अपराध किये हो, जाओ मैं क्षमा करता हूँ।

कहते हैं कि उसी दिन वह मुसलमान घर-बार त्यागकर फकीर हो गया।

एक बार एक आदमी ने इनकी परीक्षा की। रास्ता पर एक थैली में कुछ रुपया रखकर उसके ऊपर यह लिख दिया कि 'जो कोई सन्तोषी हो, वह इसे अपने काम में लावे' शंकर दास की जब थैली पर दृष्टि पड़ी और उसको पढ़ा। तब बड़े आश्चर्य में आये और बोले कि जो कोई संतोषी होगा, वह अपने काम में क्यों इसको लावेगा। आखिर इन्होंने यही निश्चय किया कि किसी विद्वान् ने परीक्षा के लिये ढंग रचा है, यह विचार कर चले गये। उस थैली को कई एक आदमियों ने देखा और शंकर दास से सम्पूर्ण हाल कहकर कहा कि महाराज आप बड़े सन्तोषी हैं, उसे अपने काम में लाइये। शंकर दास ने कहा कि, भाई जो संतोषी होगा, वह क्यों उसे अपने काम में लावेगा, यह काम असन्तोषियों का है। मैं ऐसा काम कभी न करूंगा।' इतना कहकर एक दोहा बनाया-
नाम अर्थ के साथ ही, करनी कछु होय।

पश्चिम से एक राजा हरिहर क्षेत्र आया शंकर दास का काल देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और कहा कि महाराजाजी यहां जो साधु आते जाते हैं उनकी भोजन के लिये 1000 लीजिये और फिर मैं घर जाकर कुछ प्रबन्ध करूंगा। शंकर दास ने यह सुनकर उस राजा का बहुत कुछ आदर सम्मान किया और कहा कि आपकी इस भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हुआ। पर, मुझे रुपया की कुछ आवश्यकता नहीं और अब मैं घरबार छोड़कर यहां आया हूँ कुछ धंधा नहीं करता हूँ कि रुपये बिना काम बिगड़ेगा। इसलिये आपसे यह प्रार्थना है कि आप इस रुपये को लूले, लंगड़े, अन्ध, आपाहिजों को दे देवें, तो बहुत अच्छा हो।

आखिरकार महाराज ने यही काम किया। पर शंकर दास ने रुपया न लिया। ये क्षमावान् पुरुष संवत् 1806 में 80 वर्ष की अवस्था में परलोक को सिधारे।

टका टकी लगी जाहि कोउ नहि पूछत ताके।

कैसो पण्डित होय, अवश्य धनी मुह ताके।।

कहै बिहारी विप्र, करहु एही मत पक्का।

सुकरम से यदि होय, बटोरहु टक्कहि टक्का।।2।।

जाके धन सो कुलीन है, सोई पण्डित आहि।

गुणी वाहि को सब कहै, लक्ष्मी जाके पाहि।।

लक्ष्मी जाके पाहि, सोई जन वकता होई।

देखन योग मनोहर, सुन्दर समयक सोई।।

कहै बिहारी विप्र, सबैजन विनबहिं ताके।

कोटिन ऐ गुण छिपै, कोष मों लक्ष्मी जाके।।3।।

धन वस है अकुलीन हूँ, बड़ कुलीन सतराय।

बड़ी विपद दुख सिंधु तें, भले पार है जाय।।

भले पार है जाय, मित्र सबहों नर जाके।

होत सुखी बहु दास, तथा सनमानहिं पाके।।

कहै बिहारी विप्र, अछिप्र प्रयत्न करहुं जन।

धर्मयुक्त जेहि ते मनुष्य तुम लहहुं अधिक धन।।4।।

जे न आलसी अरु चतुर, जानहिं बड व्यापार।

धीर कृतज्ञ सुशील अरु सुन्दर गुण आगार।।

सुन्दर गुण आगार, मित्रता मों दृढ़ जोई।

व्यसन माँहि आसक्त जासु, हित कबहु न होई।।

कहै बिहारी विप्र, सदा उद्योग करें ते।

पावहिं जनु धनु धाम, धर्मरत धीर सुधी जे।।





शिक्षा का प्राचीन भारतीय स्वरूप

युगल किशोर प्रसाद

हिन्दी के वयोवृद्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से सम्मानित, प्रकाशित रचनाएँ—
एकलव्य (नाटक), श्रेय से प्रेय (उपन्यास),
कुम्हरे की बतिया (कहानी संग्रह), संहिता
(निबन्ध संग्रह)

भारत को प्राचीन काल से ही विश्वगुरु की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। लोगों में यह शंका का विषय भी बन गया है कि वस्तुतः भारत इसका अधिकारी था या नहीं। परन्तु प्रस्तुत आलेख में भी युगल किशोर जी ने अपनी सूक्ष्म ग्रहिणी बुद्धि का परिचय देते हुए, भारत की इस लब्ध प्रतिष्ठा सप्रमाण संपुष्ट किया है। तक्षशिला, नालन्दा आदि विश्व विद्यालय की बहुविध चर्चित कथाएँ, हमारी अवधारणा को बल देती हैं। सचमुच जिस विश्व विद्यालय के अध्येता चाणक्या जैसा युगान्तरकारी व्यक्ति रहा हो, वह निश्चय ही अद्वितीय शिक्षा-स्थल था। लेखक ने यहाँ की शिक्षा पद्धति की वरेण्यता को बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ प्रतिपादित कर, इस आलेख की महत्ता को निस्संदेह सर्व स्वीकार्य बना दिया है। प्रस्तुत आलेख अत्यन्त ही गम्भीर एवं प्रभावोत्पादक है। अस्तु हम इसकी आशंसा करने हैं।

प्राचीन काल में गुरुकुलों में दी जानेवाली शिक्षा 'दीक्षा' से जुड़ी थी। शिक्षार्थी को सुसंस्कारित होकर लोक कल्याण हेतु प्रस्थित होकर अपनी मुक्ति (यंत्रणा से मुक्ति) के साथ-साथ समाज की मुक्ति के लिए प्रयासरत होना शिक्षा का एकमात्र महान उद्देश्य था। गुरुकुल के शिक्षार्थी 'बटुक' कहलाते थे। ब्रह्मचर्य में रहकर ज्ञानोपलब्धि का लक्ष्य उनके लिए निर्धारित था। शिक्षाप्राप्ति के दौरान बटुक को गुरु-आश्रम की साफ-सफाई, बागवानी, गोचारण, भिक्षाटन और जंगल से लकड़ियाँ चुनकर लाना, जैसे कार्य संपादित करने पड़ते थे। गुरु संदीपन के आश्रम में कृष्ण-सुदामा के जंगल से लकड़ी चुनने की कहानी प्रसिद्ध है।

एक समय था जब भारत को जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त थी और हमारे विश्वविद्यालयों में—तक्षशिला में, नालन्दा में, विक्रमशिला में था और

दूसरे विश्वविद्यालयों में विदेशों से भी बड़े-बड़े विद्वान् शिक्षार्थी बनकर आते थे। बाद में ऐतिहासिक विपर्यय के कारण हमारी स्थिति में परिवर्तन हुआ और हमारी शिक्षा का विकास-क्रम अवरुद्ध-प्राय हो गया। सन् 1857 ई. में अंग्रेजों ने लंदन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर कलकत्ता विश्वविद्यालय, मद्रास विश्वविद्यालय और बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनकी स्थापना के पीछे एक कूट योजना थी थी। लार्ड मैकाले ने जो टिप्पणी (मिनट) लिखी थी उसमें उन्होंने बताया था कि अगर हम अंग्रेजी माध्यम से भारत के विद्वानों (शिक्षार्थियों) को प्रशिक्षित करने का प्रयास करे तो एक दिन ऐसा आएगा कि वे केवल रंग में भारतीय रह जाएंगे। अपने चिन्तन में, व्यवहार में वे हमारा अनुकरण करने की चेष्टा करेंगे। मैकाले साहब की यह चेष्टा थी कि वे अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा

देकर भारतीयों को मुख्यतः क्लर्क बनाने के लिए तैयार करें। हमारे उस समय के पुरखों ने इसकी तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएं की। कुछ लोग थे जो बिलकुल अंग्रेजीवाँ हो गए, अंग्रेजों की नकल में अंग्रेज बनने की चेष्टा करने लगे। यदि उनका नाम था 'रतन दे' तो वे अपने को लिखते थे 'डी रैटन' और अगर उनका नाम आशुतोष तो अपने को लिखते थे 'ए. टोष' यानी अपने नाम में, अपने व्यवहार में वे अंग्रेजों के अधिकाधिक अनुकरण के द्वारा अपने को अंग्रेज साबित करने की चेष्टा करते थे। निश्चय ही यह रास्ता भारत के लिए स्वाभिमान का रास्ता नहीं था। कुछ ऐसे भी विद्वान थे, जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा का बहिष्कार करना चाहा और उसके द्वारा अपने पुरातन जीवन मूल्यों से चिपटे रहने का प्रयास किया। निश्चय ही यह रास्ता भी सही रास्ता नहीं था क्योंकि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हम केवल भौगोलिक सीमा के आधार पर जानने, या न जानने का निर्णय नहीं कर सकते। हमारे ही वेद की उक्ति है :

‘आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः’।

अर्थात् सब दिशाओं से मिले शुभ ज्ञान। जो शुभ ज्ञान है वह किसी भी देश से क्यों न आए हमको स्वीकार करना चाहिए। हमारे पुरखों की एक तीसरी श्रेणी थी, जिसने अंधानुकरण करने से भी इंकार किया और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के उज्ज्वल पक्ष का बहिष्कार करने से भी इंकार किया। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। यह जो तीसरा मार्ग है, इस तीसरे मार्ग को आज हम उचित मानते हैं, क्योंकि वही सही रास्ता है। हम यह मानते हैं कि हम अपने पुराने ज्ञान-विज्ञान को आज के युग में अगर स्वीकार करें तो उसको हम युगानुकूल बनाएँ। प्राचीन परंपरा को युगानुकूल बनाकर और विदेशी शैली से ली गई ज्ञान राशि को अपने देश के अनुकूल बनाकर हम अपने विकास के रास्ते पर चल सकते हैं। विकास और शिक्षा इन दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। अगर हम शिक्षा के क्षेत्र में पीछे रहेंगे तो हम विकास के क्षेत्र

में भी आगे नहीं बढ़ सकते। हमारे देश की आज की स्थिति बहुत प्रशंसनीय नहीं है। आज भी हमारे देश की बहुत बड़ी जनसंख्या निरक्षर है। आज भी हमारे देश बहुत बड़ी संख्या प्राथमिक शिक्षा के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाई है। बहुत कम लोग उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर सके हैं। उनके ऊपर कितना बड़ा उत्तरादित्व है, सारे देश के पुनर्निर्माण का, सारे देश के राष्ट्रीय विकास का, इस बात का हमको अनुभव करना चाहिए।

हमें इस बात को समझना चाहिए कि आखिर वे कौन से गुण हैं जिन गुणों ने हमारे देश को जगद्गुरु बनाया था और उन गुणों को आज हम किस रूप में स्वीकार कर सकते हैं। हमें विचार करना चाहिए कि हम अपने देश की परम्परा से जुड़े रहकर कैसे आधुनिक हो सकते हैं, कैसे हम वास्तव में अपनी उस वैदिक उक्ति को चरितार्थ कर सकते हैं कि विश्वविद्यालय का मतलब होता है 'यज्ञ विश्व भवत्येकनीडम्', जहाँ सारा संसार एक घोंसला बन जाए। सारे संसार के विद्वान जहाँ आ सकें और जिसकी दृष्टि क्षेत्रीय न हो, जिसकी दृष्टि के सामने सारा विश्व हो। विश्व मानवता को स्वीकार करते हुए अपने देश की राष्ट्रीयता, अपने देश का सर्वतोमुख विकास करने के लिए अपने को समर्पित करने की दृष्टि हममें कैसे विकसित हो यही हमारे अध्यापकों के, हमारे विद्यार्थियों के, हमारे शोधार्थियों के, यह चिन्तन का विषय होना चाहिए, और इस दिशा में हमको अग्रसर होना चाहिए।

सच है कि अपने कार्य के प्रति गौरव बोध हमें किसी काम को भली भाँति सम्पन्न करने की प्रेरणा देता है। जब हम जगद्गुरु थे तो हमारे अध्ययन-अध्यापन के कार्य को किस रूप में देखा था। हमारी मान्यता थी 'छात्राणाम् अध्ययन तपः', यह कथन इस बात को साबित करता है कि अध्ययन-अध्यापन को हमारे उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा की थी। हमारी दृष्टि केवल अर्थकारी विद्या प्राप्त करने की नहीं थी। हमारा तत्कालीन अध्यापक सगौरव कहता था :

‘नाहं विद्याविक्रयं शासनशतेनापि करोमि’।

सैकड़ों शासन का अधिकार प्राप्त होने पर भी मैं विद्या-विक्रय नहीं करूँगा। यह दृष्टि हमारे अध्यापकों की दृष्टि थी। अच्छा अध्यापक कौन होता है? अच्छा अध्यापक वही होता है जो आजीवन छात्र रहे। जब तक सांस चलती रहें तबतक सीखने की प्रवृत्ति अगर बनी रहेगी, तब हम अच्छे अध्यापक हो सकेंगे। आधुनिक युग के महान उपदेशक, महान गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव के कहा उतने दिन सीखूँगा)। यह लगातार जो सीखते रहने की परंपरा है, यह परंपरा विद्या के क्षेत्र को उन्नत मान देती है। कैसे हम विद्या को प्राप्त करें? शिक्षा का मतलब क्या होता है? ‘शिक्षाविद्योपादाने’, शिक्षा का मतलब होता है विद्या देने की प्रक्रिया। ‘शिक्षते उपदीयते विद्या यया सा शिक्षा’, शिक्षा वह जिससे विद्या प्रदान की जाती है। हमारे देश में विद्या के दो भाग किए गये हैं- एक परा विद्या, एक अपरा विद्या। परा विद्या का मतलब है परमात्म विद्या, अध्यात्म विद्या और अपरा विद्या माने लौकिक विषयों की विद्या। इन दोनों प्रकार की विद्याओं के अर्जन को तपस्या की संज्ञा दी गई है। एक बार ऋषियों से एक प्रश्न पूछा गया कि सबसे बड़ा तप कौन है? ऋषियों में एक नाको मौद्गल्य ऋषि थे उन्होंने कहा-

‘स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः

तद्धि तपस् तद्धितपः तद्धि तपस् तद्धि तपः।।’

विभिन्न ऋषियों ने अलग-अलग तप बताए, लेकिन नाकोमौद्गल्य ने कहा कि सबसे बड़ा तप है स्वाध्याय करना और प्रवचन करना। सभी ऋषियों ने अपनी सहमति स्थापित करते हुए कहा, हां वही तप है, वही तप है। यही अच्छे शिक्षक का धर्म है। स्वाध्याय जितना उत्तम होगा प्रवचन उतना उत्कृष्ट होगा। इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद ने आदेश दिया, ‘स्वाध्यायन्मा प्रमदः’, स्वाध्याय से यानी अच्छे ग्रंथों के निरंतर अनुशीलन से कभी प्रमाद मत करना। जो भी अध्यापक होगा वह अगर तपस्या करना चाहता है तो उसको निरंतर स्वाध्याय करना होगा और

जितना अधिक स्वाध्याय वह कर सकेगा उसका प्रवचन उतना प्रामाणिक होगा। महाकवि कालिदास ने शिक्षकों की एक अद्भुत शृंखला बताई है कि बड़ा शिक्षक कौन है, धुरि-प्रतिष्ठा का अधिकारी शिक्षक कौन है। उन्होंने कहा :

‘शिष्टा क्रिया कस्यचिदात्म संस्था,

संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणो,

धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।’

अर्थात् कुछ विद्वान् होते हैं जो ज्ञान तो बहुत अर्पित कर लेते हैं लेकिन ज्ञान का संक्रमण करने में, अपने विद्यार्थियों को ज्ञान दे पाने में वे कुशल नहीं होते। संक्रान्ति की विद्या से वे रहित होते हैं। कुछ विद्वान् होते हैं जो संक्रमण में तो बहुत कुशल होते हैं, जितना जानते हैं उतना दूसरों को सिखा देते हैं लेकिन वे जानते ही कम हैं।

ये दोनों प्रकार के विद्वान् धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं हैं।

‘यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां

धुरि प्रतिष्ठापयितव्या स वा।’

जिसमें ये दोनों गुण हों अर्थात् वह स्वयं ज्ञानी भी हो, और ज्ञान के संक्रमण की कला में भी कुशल हो वही विद्वान् धुरिप्रतिष्ठा का, वास्तविक प्रतिष्ठा का उत्तराधिकारी होता है। हमारे देश में धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी विद्वान् थे, वे जब शिक्षा देते थे, तब हमारे विद्यार्थी आगे बढ़ते थे। आज भी हमारे देश में बहुत से ऐसे धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी विद्वान् हैं, लेकिन यह अपेक्षित है कि हममें से प्रत्येक शिक्षक इस धुरिप्रतिष्ठा को प्राप्ति की ओर अग्रसर हों। शिक्षा का, शिक्षक का यही आदर्श था। आज यह बात आश्चर्यजनक लग सकती है, लेकिन हमारे देश का आदर्श शिक्षक डंके की चोट पर अपने विद्यार्थियों से कहता था:

‘यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि तो इतराणि।’

हमारे देश का शिक्षक कहता था कि, 'जो हमारा सुचरित है, विद्यार्थियों केवल उस सुचरित का तुम अनुगमन करना, जो सुचरित से भिन्न है उसका अनुगमन मत करना। हमारे देश की अद्भुत दृष्टि थी। वह कहता था, 'सर्वत्र जयमन्विच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्। मनुष्य को सर्वत्र विजय की कामना करनी चाहिए, लेकिन मेरा पुत्र मुझको हरा दे, मेरा विद्यार्थी मुझको हरा दे, यह कामना भी भारत का शिक्षक करता था। अगर मेरा विद्यार्थी मुझको पराजित करेगा तो कैसे पराजित करेगा? ज्ञान की सीमा को जहां तक मैंने बढ़ाया है जब उससे आगे वह बढ़ा कर ले जायेगा, तब मेरी बात में वह कहीं खोटा निकालेगा और उसको दूर करेगा, जब मुझसे भी ज्यादा वह ज्ञानी हो जाएगा तब न मुझे पराजित करेगा। अगर कोई शिष्य किसी गुरु को अपने ज्ञान से पराजित करता है तो गुरु की छाती फूल जाती है। हमारे आदर्श गुरु की चेष्टा होती थी कि हमारे शिष्य हमसे भी योग्य बन जाएं, यह नहीं कि हम अपने शिष्यों को दबाते रहें।

हमारे देश में कहा गया है कि दो प्रकार के गुरु होते हैं। एक प्रकार का गुरु होता है आकाशधर्मी गुरु और दूसरे प्रकार का गुरु होता है शिलाधर्मी गुरु। शिक्षाधर्मी गुरु कैसा होता है? आप लोगों ने मैदानों में देखा होगा कि हरी घास के ऊपर अगर कोई एक ईंट रख दे, एक शिला रख दे और एक महीने के बाद उस ईंट को हटाये तो दिखेगा कि ईंट से दबी घास पीली पड़ गई, निस्तेज हो गई, विकलांग हो गई। जो गुरु शिलाधर्मी गुरु के रूप में अपने विद्यार्थियों पर लद जाए और कहे कि मैं जो कहता हूँ वही तुमको मानना पड़ेगा, वही सत्य है तो वह अपने विद्यार्थियों का विकास नहीं कर सकता। शिलाधर्मी 'गुरु हमारे यहां त्याज्य, हमारे यहां निन्दा माना जाता है। हमारे यहां जिस गुरु की आदर्श कल्पना की गई है, उस गुरु की संज्ञा 'आकाशधर्मी', है। आकाशधर्मी गुरु कैसा होता है? आकाश चाहता है कि उसके नीचे जो वनस्पतियाँ हैं वे विकसित हों,

जिनकी जितनी क्षमता हो वह उतनी विकसित हो। घास की उगने की क्षमता प्रायः सतह तक है और देवदारू की उगने की क्षमता बहुत ऊँची है, बरगद बहुत फैल सकता है। आकाशधर्मी गुरु प्रत्येक शिष्य को प्रकाश देता है, आकाशधर्मी गुरु प्रत्येक शिष्य को वायु देता है, प्रत्येक शिष्य को अवकाश देता है बढ़ने का ताकि जिसकी जितनी क्षमता है वह उतनी विकसित भूमिका को अर्जित कर सके। यह आकाशधर्मी गुरु का लक्षण है। आकाशधर्मी गुरु शिष्य की क्षमता को पहचानता है। जैसे चिकित्सा रोग की नहीं की जाती, चिकित्सा रोगी की जाती है, वैसे ही विद्या विद्या के लिए नहीं दी जाती, विद्या व्यक्ति को दी जाती है। उस व्यक्ति की जो क्षमता है, उस व्यक्ति के जो विशेष गुण हैं, उन विशेष गुणों को कैसे विकसित किया जाए, यह कुशलता जिस गुरु में होती है उसको आकाशधर्मी गुरु कहते हैं। आकाशधर्मी गुरुओं के द्वारा भारत वर्ष बड़ा हुआ है और आज भी अगर भारतवर्ष बड़ा होगा तो इन्हीं आकाशधर्मी गुरुओं के द्वारा होगा जो अपने शिष्यों से मतभेद की चिन्ता किए बिना उनको सही रास्ते बताते हुए उनकी प्रवृत्ति के अनुसार उनके विकास की सुविधा देते रहेंगे। शिष्यों की क्षमता के अनुसार उनके विकास की दिशा बताने वाला आकाशधर्मी गुरु हमारा आदर्श होना चाहिए।

कबीर दासजी ने कहा है, 'पारस में और गुरु मैं बहुत अन्तर होता है। 'पारस पत्थर लोहे को सोना बना सकता है लेकिन गुरु, आकाशधर्मी गुरु शिष्य को भी अपने जैसा आकाशधर्मी गुरु बना सकता है। गुरु की महिमा उन्होंने गाई है-

'गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागू पांय।
बलिहारी गुरु आपनो, गोविन्द दियो बताय।।
गुरु परम सत्य से परिचित करा देता है। गुरु की वास्तविक सफलता शिष्य की श्रद्धा अर्जित करने में है। एक बढ़िया श्लोक है :

'बहवः गुरवः सन्ति शिष्यविता पहारकः।

दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः।।

ऐसे तो गुरु बहुत हैं जो शिष्यों के वित्तका, अर्थ का अपहरण कर लेते हैं। आजकल हम लोग फीस लेते ही हैं, प्रायः हर विद्यार्थी को फीस देनी पड़ती है तो वित्त का अपहरण करनेवाली शिक्षा संस्थाएं और गुरु बहुत हैं। आई आई टी, प्राइवेट मेडिकल शिक्षण, होटल मैनेजमेंट, एम.बी.ए. जैसी संस्थाओं में फीस की रकम इतनी ऊँची है कि प्रतिभावान किन्तु अर्थ रहित उम्मीदवार मुँह ताकते रह जाते हैं। आजकल पी.एच.डी. में नामांकन के लिए लाख रुपये की रिश्वत ली जाती है। दुर्लभः स गुरुलोक शिष्यचिन्तापहारकः' किंतु वैसा गुरु दुर्लभ है इस लोक में जो शिष्य के चित्त का अपहरण कर सके, जो शिष्य की श्रद्धा अर्जित कर सके। शिष्य श्रद्धेय के रूप में किसी गुरु को क्या केवल इसलिए स्वीकार कर लेगा कि वह अध्यापक है, वह प्रोफेसर है। ऐसा नहीं होता। केवल पद से सम्मान प्राप्त नहीं होता। शिक्षक में कुछ वैशिष्ट्य होना चाहिए, जिससे शिष्य के मन में श्रद्धा उत्पन्न हो और वह वैशिष्ट्य जब तक हमारा शिक्षक वर्ग अर्जित करता रहेगा। तब तक हमारे विद्यार्थी आगे बढ़ते रहेंगे। साथ ही, यह भी विचारणीय है कि अध्यापक के समान ही शिष्य का क्या स्वरूपभूत लक्षण होना चाहिए। शिष्य कैसे ज्ञान प्राप्त करे इसके बारे में श्रीमद्भागवद्गीता में दो बहुत अच्छी उक्तियाँ कही गई हैं-

‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।’

शिष्य का आधारभूत लक्षण है ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रणी होना। शिष्य ज्ञान प्राप्त कर सके, इसके लिए उसको परिप्रश्न करने का अधिकार मिलना चाहिए। परिप्रश्न माने बार-बार प्रश्न, परिप्रश्न माने चारों तरफ से प्रश्न, परिप्रश्न माने जब तक विषय समझ में न आए तब तक प्रश्न करने का अधिकार शिष्य का है, इसकी स्वीकृति लेकिन परिप्रश्न को सम्पुटित किया गया है, प्रणिपात यानी विनम्रतापूर्वक नमस्कार और सेवा के द्वारा। विद्यार्थी अध्यापक से प्रश्न करने के अधिकारी हैं अगर सचमुच उस विषय को वे जानने, समझने की इच्छा

रखते हैं, किन्तु उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें विनम्र होना चाहिए। इस सन्दर्भ में एक अच्छी उक्ति :

पैये असीस चसैचे जो सीस।

लची रहिये तब ऊँची कहैये।।

जब तक विद्यार्थी का सिर श्रद्धा से झुकता नहीं है गुरु के सामने, तब तक वह विद्या अर्जित नहीं कर सकता। साथ ही हमें निश्चल सेवा के दास गुरु को प्रसन्न भी करना चाहिए। इस प्रकार सेवा और प्रणिपात के द्वारा हम अनेकानेक प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। एक और बात है, एक उक्ति बहुत बार उद्धृत की जाती है-

‘श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्’ श्रद्धावान् को ज्ञान प्राप्त होता है लेकिन इतनी ही बात अच्छी बात है। पूरी उक्ति है गीता की :

‘श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

उस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है जो अपने गुरु एवं विषय के प्रति उस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है जो अपने गुरु एवं विषय के प्रति श्रद्धा तो रखता ही है साथ ही उसको अर्जित करने के लिए तत्पर है जुटा हुआ है, उसी के प्रति समर्पित है। दूसरी ओर उसका ध्यान न जाए इसके लिए उसको लभतेन्द्रिय होना चाहिए, अपनी इंद्रियों पर संयम रखना चाहिए। अपनी इंद्रियों पर संयम रखकर जब हम अपना पूरा ध्यान अपने अध्येतव्य विषय की ओर लगाएंगे तब हम श्रद्धा के द्वारा ज्ञान अर्जित कर सकेंगे। विद्यार्थियों के लिए एक अच्छा शोक है, याज्ञवल्क्यीय शिक्षा का। उसका अभिप्राय यह है कि हम अपनी भूमिका को सतत नापते रहें कि हम कहां खड़े हैं। विद्या-बुद्धि की कौन-सी भूमिका है जिसपर अभी हम खड़े हैं और जिससे अग्रसर होना चाहते हैं, उच्चतर भूमिका पर जाना चाहते हैं। वह अद्भुत श्लोक है-

“शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।

उहापोहार्थी विज्ञानं तत्त्वज्ञानं च श्री गुणाः।।

धी माने बुद्धि। बुद्धि के सात गुण हैं अर्थात्

बुद्धि की सात भूमिकाएँ हैं। हम सब विचार करें कि हम किस भूमिका पर खड़े हैं।

बुद्धि की पहली भूमिका है शुश्रूषा। शुश्रूषा माने श्रोतुमिच्छा। श्रोतुमिच्छा यानी जानने की इच्छा, सुनने की इच्छा। पुराकाल का यह श्लोक है। पुराकाल में तो छपी हुई किताबें होती नहीं थीं, हस्तलिखित ग्रन्थ होते थे उनकी संख्या भी बहुत कम थी। इसलिए गुरु के निकट जा कर पूछा जाता था, जिस गुरु के लिए कबीर साहब की उक्ति है- 'सीस दिए जो गुरु मिलै, तो भी सस्ता जाना।' कोई बात जानने की इच्छा हुई तो उसे कहते थे शुश्रूषा। सुनने की, जानने की इच्छा यदि इच्छा के स्तर पर ही रुक गई तो समझिए कि बुद्धि बहुत मंद है।

बुद्धि की दूसरी भूमिका है जानने की चेष्टा। जानने की क्रिया। श्रवणम् का मतलब हुआ कि अपनी जिज्ञासा को लेकर अपने प्रश्न को लेकर योग्य अधिकारी गुरु के पास गये उनसे विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया और उन्होंने जो उत्तर दिया; जो उन्होंने समझाया, उसको सुना। श्रवणम् का मतलब हुआ जानने की, ज्ञान अर्जित करने की चेष्टा। आज हमारे मन में शुश्रूषा हो तो हम इनसाइक्लोपीडिया से समझ सकते हैं, हम इन्टरनेट से समझ सकते हैं लेकिन आधारभूत बात यह है कि जानने की इच्छा होनी चाहिए और जानने की इच्छा के बाद जानने की क्रिया होनी चाहिए। श्रवणम् माने जानने की क्रिया। जानने के लिए अध्यापक के पाए गए, आपने अपने अध्यापक से सवाल किया, उनका बताया हुआ उत्तर सुना, लेकिन समझ में नहीं आया तो मतलब हुआ कि बुद्धि मन्द है।

बुद्धि की तीसरी भूमिका है ग्रहणम्। जो कुछ आपको बताया गया वह आपकी समझ में आना चाहिए। वह आपकी समझ में आया कि नहीं, अगर समझ में आया तो आप बुद्धि की तीसरी भूमिका पर हैं और समझ में नहीं आया तो आपकी बुद्धि मंद है।

बुद्धि की चौथी भूमिका है धारणम्। आपने किसी विद्वान का व्याख्यान सुना, घर में आकर कहा,

आज का व्याख्यान बहुत अच्छा था, वाह-वाह कितना अच्छा व्याख्यान था आज का। किसी ने पूछा, क्या कहा गया था व्याख्यान में, उत्तर दिया, भाई, यह तो याद नहीं, तो यह बुद्धि की मन्दता है। बुद्धि की चौथी भूमिका है : धारणम् अर्थात् जो हमने सुना जिसको हमने समझा उसको हमने धारण किया कि नहीं किया। अगर हमको वह याद नहीं है तो हमारी बुद्धि मन्द है। हमको बुद्धि की चौथी भूमिका पर जाना चाहिए कि हम पढ़ें उसको स्मरण रख सकें, धारण कर सकें।

'ऊहापोहार्थविज्ञानम्' गंगा गए गंगादास, यमुना गए यमुना दास ऐसा नहीं होना चाहिए। इन्होंने कहा यह सही, उन्होंने कहा वह भी सही, ऐसा नहीं होना चाहिए। जो विषय सुना है, जो विषय समझा है या जो विषय पढ़ा है उसके ऊपर ऊहाथोह किया कि नहीं, विचार किया कि नहीं, वह सही है तो सही है, वह गलत है तो क्यों गलत है। यह जो सही और गलत के बारे में विश्लेषण करना, वितर्क करना, विवेचन करना है, यह बुद्धि की पांचवी भूमिका है। अंध श्रद्धा की बात भारतीय दृष्टि में नहीं है। ऊहापोह करना चाहिए, विचार करना चाहिए और विचार करने के बाद जो सही लगे उसे स्वीकार करना चाहिए, जो गलत लगे उसे छोड़ देना चाहिए और जो कुछ सीखा है उस सीखे हुए को काम में लाना चाहिए।

'अर्थविज्ञानम्' यह बुद्धि की छठी भूमिका है। जो भी हमने सीखा है, जो हमने ज्ञान प्राप्त किया है वह अगर काम में नहीं आया तो किस काम का। मीमांसा का सूत्र है 'सर्वमपि ज्ञानं कर्मपरम्' अर्थात् सीखा हुआ ज्ञान हमारे आचरण में, हमारे कर्म में उतरना चाहिए। हमको सही दिशा देने वाला ज्ञान हमसे ठीक ठीक काम करवाए। वेदान्त ने इसमें एक अपवाद बताया है, 'ऋते आत्मज्ञानात्' अर्थात् आत्मज्ञान को छोड़कर, आत्मज्ञान के बाद कर्म अनिवार्य नहीं रहता। किन्तु अभी तो हम लौकिक ज्ञान की बात कर रहे हैं। तो अर्थ विज्ञानम् अर्थात् ज्ञान का उपयोग हो। जैसे कोई अनुसंधान हुआ तो

उस अनुसंधान के द्वारा, विविध तकनीकों के द्वारा हम कैसे यंत्र बना सकते हैं, कैसे उसका उपयोग समस्याओं का समाधान करने में कर सकते हैं, यह अर्थ विज्ञान आना चाहिए। यह बुद्धि की छठी भूमिका है।

‘तत्त्वज्ञानं च धी गुणः’ और तत्त्वतः किसी विषय को समझ लेना उस विषय को पूर्णतः समझ लेना है, जैसे मिट्टी को तत्त्वतः समझ लिया तो मिट्टी से बनी हुई सभी चीजों को समझ लिया, सोने की तत्त्वतः समझ लिया तो सोने की बनी हुई सब चीजों को समझ लिया। किसी चीज का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर लेना उस विषय की समझदारी की सातवीं भूमिका है। हमारे विद्यार्थियों को सातवीं भूमिका तक जाने की तैयारी करनी चाहिए।

बड़ा काम कैसे होता है? बड़ा काम केवल इच्छा से नहीं होता। बड़ा काम उस बड़ी इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपने जीवन को होम देने से होता है। जीवन की सारी शक्तियों को एकाग्र करके अपने विषय को उपलब्ध करने के लिए जब हम अपने आपको समर्पित कर देंगे तब बड़ा काम कर सकेंगे।

अनुसंधान या शोध कार्य के लिए यह स्थापना सत्य है। ज्ञान का प्रदर्शन कर सस्ती वाहवाही लूट लेना अलग बात है और किसी विषय की तह में जाकर उसकी अनसुलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना, उस विषय के ज्ञान को आगे बढ़ाना, बिल्कुल दूसरी बात है। नवीन शोधों के द्वारा ज्ञान की समृद्धि कौन कर सकता है, कैसे कर सकता है, इसपर एक बहुत ही अच्छा श्लोक है:

‘तरन्तो दृश्यन्ते बहव इह गंभीरसरसि,
सुसाराभ्यां दोर्भ्यां हृदि विदधतः कौतुकशतम्।
प्रविश्यान्तर्लीनं किमपि सुविविच्योद्धरति यः
चिरं रुद्धश्वासः स खलु पुनरेतेषु विरलः॥

अर्थात् इस गहरे और विशाल ज्ञान-सरोवर में तैरते हुए बहुत से तैराक अपनी पुष्ट भुजाओं से नाना प्रकार के कौतुक करते हुए दीख पड़ते हैं

किन्तु इन सबमें वह (विद्वान्) विरला ही है जो देर तक साँस रोककर, गहरे डब कर गंभीर विवेचन के बाद किसी दुर्लभ रत्न का उद्धार कर लाता है। आत्मप्रदर्शन विमुख, गंभीर, निष्ठापूर्ण, ऐकान्तिक, वस्तुनिष्ठ विद्या साधना ही मौलिक शोधपरक उपलब्धि का आधार है, यह सत्य इस श्लोक में बहुत अच्छी तरह निरूपित किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अपूर्व वस्तु का निर्माण करने में समर्थ प्रजा को प्रतिभा कहा है ‘अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रजा प्रतिभा’, हमारे शोधार्थी प्रतिभाशाली हों और नई-नई शोधों, नए-नए अविष्कारों द्वारा ज्ञान की परिधि को बढ़ाते रहें।

हमारी शिक्षा-परम्परा यह भी मानती है कि अपनी मान्यताओं की हमें बार-बार जांच पड़ताल करनी चाहिए इसके लिए सही रास्ता है विद्वानों से विचार-विमर्श करते रहना। ‘वादे वादे जायते तत्त्वबोधः’ इस दिशा में हमारा मार्ग निर्देशक सूत्र है। कई बार ऊँचा पद प्राप्त कर लेने के बाद प्राध्यापकगण विचार-विमर्श से कतराने लगते हैं। उन्हें लगता है कि यदि उनकी बात गलत साबित हो जाएगी तो उन्हें अपमानित होना पड़ेगा, अतः विवाद से, शास्त्रार्थ या विचार-विमर्श से ये कन्नी काटते हैं। महाकवि कालिदास ने इस प्रवृत्ति की निन्दा करते हुए एक मार्मिक श्लोक लिखा है :

‘लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोः
तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायै
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति॥

अर्थात् सम्मानजनक पद प्राप्त हो जाने के बाद जो विवाद भीरु आत्मविश्वासहीनता के कारण दूसरों के द्वारा की गई निन्दा को सहता रहता है, जिसका ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिए ही होता है वह तो ज्ञान बेचने वाला बनिया है, विद्वान नहीं। विद्वान सब समय विवाद ही करता रहे, इसका अर्थ यह भी नहीं। इसका अभिप्राय यही है कि अपनी मान्यता विचार की कसौटी पर खरी उतरती रहे,

इसकी ओर सजग, रहना चाहिए। अन्यथा विद्वत्ता तेजस्विनी नहीं हो सकती। हमारी पारंपरिक प्रार्थना यह है कि हमारा अधीत (हमारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान) तेजस्वी हो- 'तेजस्विनावधीतमस्तु'। यह तेजस्विता खंडित तभी होती है जब हम अपना नाम बेचने लगते हैं। जायसी की हृदयस्पर्शिणी उक्ति है, 'पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। जहाँ बिकाइ भूलि गा पढ़ा।' हमारी अपेक्षा है कि हमारे तेजस्वी विद्वान प्राध्यापक आत्मविक्रम की स्थिति से बचें। एक बात और/ज्ञान प्राप्त करने की तेजस्वी परम्परा यह मानती थी कि केवल एक विषय का ज्ञान रखने वाले वास्तव में ज्ञानी नहीं होते। उनकी मान्यता थी थी, 'एक शास्त्रं अधीयानः न किंचिदपि शास्त्रं विजानाति'। अर्थात् एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नहीं जानता। सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत से शास्त्र जानने चाहिए, भले ही विशेषज्ञता एक शास्त्र की हो। क्योंकि सभी शास्त्र, सभी विषय परस्पर सम्बद्ध हैं। एक शास्त्र की ग्रन्थि दूसरे शास्त्र के प्रकाश से सुलझाई जा सकती है। अतः विद्वान को बहुश्रुत होना चाहिए। भारतीय शैक्षणिक दृष्टि यह रही है कि हम तो अपने जीवन की सार्थकता के लिए पढ़ रहे हैं हम तो अपने जीवन में ऋषि ऋण उत्तारने के लिए जो कुछ हमने बड़े से सीखा है उसको सामान्य जनता तक पहुंचा देने के लिए काम कर रहे हैं। अतः हमारी चिन्ता होनी चाहिए कि कैसे हम उच्चतम ज्ञान-विज्ञान भारतीय भाषाओं में ले आएँ, कैसे हम उच्चतम विद्या को निम्नतम वर्ग तक पहुंचाने की धारावाहिकता करें। शिक्षा (विद्या) के प्रति हमारा दृष्टिकोण, 'सा विद्या या विमुक्तये' का रहा है। शिक्षा द्वारा अर्जित विद्या मुक्ति का साधन बनाने, यह हमारा ध्येय रहा है। अपनी मुक्ति के साथ-साथ सर्वजन मुक्ति शिक्षा का अभीष्ट रहा है।

इसलिए हमारे देश के पुनर्निर्माण का जो महायज्ञ चल रहा है, उसकी वास्तविक आधार भूमि राजनीति नहीं, हमारे विश्वविद्यालय हैं। राजनीति स्वार्थ साधन के लिए झूठे वायदे करवा कर रह जाती

है। स्वार्थ सध जाने (गद्दी मिल जाने पर) वे सारे वायदे भूल जाते हैं।

शिक्षा आजकल उपेक्षित है। शासन-सत्ता इस ओर से ध्यान मूढ़े हुए है। चाणक्य जैसे समर्थ गुरु से शासक वर्ग भयभीत रहता है, दुनीति, कुशासन वाली सत्ता वहीं उलट न जाए।

इसलिए ध्यान देने की बात है कि हमारे विश्व विद्यालयों में जैसे प्राध्यापक, प्रशासक रहेंगे, हम वैसे ही पाठ्यक्रम रखेंगे, वैसा ही वातावरण बनाएंगे, वैसे ही विद्यार्थी उत्पन्न करेंगे। स्वभावतः देश वैसा ही बनेगा। हमारे देश की प्राचीन शिक्षा प्रणाली इसी दिशा में कार्य करती थी, देश सबल था, सुरक्षित था, तब देश जगद्गुरु के रूप में मान्य हुआ था।

अगर हम अपने राष्ट्र को महान्, अविजित बनाना-रखना चाहते हैं तो अपनी गौरवपूर्ण शिक्षा-परंपरा से प्रेरणा लेते हुए वर्तमान सहस्राब्दी में आनेवाली चुनौतियों का मुकाबला करने हेतु समर्थ प्राध्यापक, नवीनतम ज्ञान-विज्ञान से समृद्ध पाठ्यक्रम और परिवेश-निर्माण के लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा।

न्यू विग्रहपुर, बिहारी पथ

पटना-1



अब लौं नसानीं अब ना नसैहौं

भाग-4

पं. सुरेशचन्द्र मिश्र

जीवन कब कैसा रुख लेता है? इस प्रश्न का जबाब यदि मैं लोगों से पूछूँ और शायद नहीं में जबाब आए तो कोई बड़ा आश्चर्य नहीं। जीवन पथ पर अबाध बढ़ते लोग न दाएँ देखते न बाएँ न ऊपर देखते न नीचे, अगर देखते हैं तो केवल अपने वे वृषभ बलिष्ठ कंधे जिन पर उन्हें पूरा भरोसा होता है, और पूरे विश्वास के साथ वे अपने लिए गए कठोर से कठोर वचन को पूरा करते हैं। उस वचन के निर्वाह में चाहे उन्हें कठिनाईयों का पहाड़ ही क्यों न मिले, वे हँसते-हँसते सब पर अपना विजय ध्वज फहराते, एक नया निशान बनाते, अपनी कीर्ति कौमुदी से दुनियाँ को चमत्कृत कर जाते हैं।

आइए, इस संदर्भ में आज हम एक ऐसे संत महापुरुष को याद करते हैं, जो हम भारतीयों के परम प्राण है तथा जिनकी अमृतवाणी आज भी हमें उसी प्रकार आकर्षित करती है, जैसा सदियों पहले। आपके जीवन का कोना-कोना जिनके अमृत-वचनों से पूरित है, जीवन घट का एक-एक बून्द अमृत समान उपयोगी बन गया है, जीवन कानन जिनके अमृत अवदान से सदैव हरा-भरा रहता है, कठोर शीतातप में भी जिनके दिखाए मार्ग हमें विचलित नहीं होने देते, वे हैं परम प्रिय संत महात्मा तुलसी। मुझे लगता है, 'रामचरितमानस' न केवल उनकी एक अलौकिक काव्य-साधना है बल्कि एक श्रेष्ठ योग साधना भी है। मानस की एक-एक पंक्ति, एक संत हृदय की पवित्र वाणी है, जिसे उन्होंने जिआ है, उसकी सत्यता को देखा-परखा है। देखिए-

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।।

महामनीषी किसी की निन्दा-स्तुति की चिन्ता नहीं करता। उसे इसकी भी परवाह नहीं कि उसके इस कदम से उसे क्या हानि या लाभ होगा, लक्ष्मी टिकेगी या जायेगी। वह केवल न्याय के रास्ते पर अबाध बढ़ता रहना चाहता है।

महान् लोग महान् इसलिए नहीं होते कि उनमें अलौकिकता कदाचित् ऊपर से आ टपकी है, बल्कि पल-पल उन्होंने जीवन में अपने इर्द-गिर्द से कुछ ऐसी वस्तुएँ बटोरी हैं, जो दूसरों के लिए सर्वथा उपेक्षणीय थीं, पर उनके लिए बेशकीमती। हीरे-परख की इसी बुद्धि ने उन्हें महान्-से महान् बना दिया और वे ऐसे चमके, जैसे सोना; ऐसे दमके, जैसे गुलाब; ऐसे सुशोभित हुए, जैसे तारों बीच चाँद और ग्रहों बीच अद्वितीय रश्मिमान् सूर्य।

तुलसी वैरागी हो चुके थे। चारों ओर उनकी यशोकीर्ति फैल चुकी थी। लोग उन्हें राम के परम भक्त के रूप में जान चुके थे। उनका स्पष्ट उद्घोष था-

राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।

राम नाम नव नेह मेह सो, मन हठी होय पपीहा।

वे 'भूमा' की स्थिति में आ चुके थे।

“नान्यच्छृणोति नान्यत् पश्यति नान्यद्
विजानाति स भूमा”।

वस्तुतः वे एक तपे तपाये संत की दिव्यता को प्राप्त कर चुके थे। उनके पास राम के अतिरिक्त कुछ था ही नहीं।

एक दिन तुलसी कहीं से आ रहे थे। शाम हो

गई थी। अँधेरा भी घिर चुका था और फिर उम्र का भी तकाजा था। सत्तर-अस्सी को पार कर चुके थे, आँखें थक चुकी थी और पैर भी जबाव देने लगे थे। उन्हें लगा, अब रुक जाना चाहिए। पास एक गाँव दिखाई पड़ा और वहीं रुकने का निर्णय लिया।

पेट की परवाह किसे नहीं रहती। उनके परम प्रिय राम ने भी कुटी छाजी थी, सीता मैया ने चुल्हे फूँके थे। गाँव में प्रवेश कर उन्होंने पता लगाया कि ठहरने के लिए कोई मन्दिर है या नहीं। लोगों ने बताया, 'महात्माजी, मन्दिर तो है, पर गाँव से दूर; जहाँ न सफाई है और न दीया-बाती का कोई ठोस प्रबन्ध। पुजारी पंडितजी दिन छैत ही पूजा-पाठ, आरती-मंगल कर चले जाते हैं। मन्दिर के चारो ओर घना बँसबीटी है, जहाँ दिन में भी साँप रेंगते रहते हैं, फुफकार भरते रहते हैं।' महात्माजी ने फिर पूछा- 'भई, कोई साफ-सुथरा गृहस्थ परिवार है? मैं स्वपाकी हूँ, खाना स्वतः बना लूँगा। बिताभर साफ जगह मिल जाए, मैं रात गुज़ार लूँगा।' महात्माजी की वृद्धावस्था, उनकी सरल वाणी एवं सदाचरण देख किसी ने कहा- "हाँ, एक वृद्धा ब्राह्मणी है, जो घर-दरबाजे साफ रखती है, प्रतिदिन गंगा-स्नान करती है और हमेशा पूजा-पाठ में संलग्न रहती है। चले, मैं पहुँचा देता हूँ। आप-जैसे उच्च विचारवान् महात्माओं की सेवा ही वे अपना परम कर्तव्य मानती हैं। सादगी वहाँ छहरती है, धर्म वहाँ बोलता है। रामायण-पुराण का शुद्धाचरण ही उनका जीवन है। 'वे उस ग्रामीण के साथ हो लिए और ब्राह्मणी के घर पहुँचे। ब्राह्मणी ने पधारे देवता को पाद्य-अर्घ्य दे उचित सत्कार किया और यह भी पूछा कि महात्माजी, मेरे चौके में आज शाक और रोटी का प्रसाद है, क्या लाऊँ? महात्माजी ने कहा, 'मैं स्वपाकी हूँ, खुद बना लूँगा।' ब्राह्मणी ने बड़ी श्रद्धापूर्वक चुल्ही लीप चौका कर डाले और अन्य पाक सामग्रियों को महात्माजी के सामने रख दिया। महात्माजी ने स्नान

कर भोजन बनाया और पूजा-पाठ कर आसन पर बैठ भोजन करने लगे। ब्राह्मणी सात्त्विक भाव से महात्माजी के हर क्रिया-कलाप को देख रही थी ताकि किसी चीज की आवश्यकता होने पर शीघ्र उन्हें लाकर दिया जा सके। ब्राह्मणी को अनुभव हो रहा था कि यह व्यक्ति मेरा पूर्व परिचित-सा लगता है और कदाचित् यह मेरे पति तुलसीदास ही हों। परन्तु, यह स्मरित, अनुमानित बात को बिल्कुल सत्य मान लेना अनुचित समझ, मन की बात को दबाए, भावनाओं को तूल न देकर वश में किए, विनीत भाव से एक साध्वी नारी की तरह साधुसेवा में संलग्न रही।

महात्माजी को खाते-खाते कुछ याद पड़ा और उठने का प्रयत्न किया। ब्राह्मणी कोने में छिपकर बैठी उनकी असुविधाओं पर नजर रख रही थी। ब्राह्मणी ने कोने से ही पूछा- 'क्या कुछ चाहिए महात्माजी? क्या नमक-मिर्च लाऊँ?' महात्माजी ने इशारा करते हुए कहा, 'वह मेरा बटुआ है, उससे नमक-मिर्च है, बटुआ ला दें।'

अबूझ पहेली अब खुलकर साफ हो चुकी थी। सहृदयी सामाजिक, आप भली-भाँति समझ सकते हैं कि दशकों पिनक कर भाग गया पति अगर किसी एकव्रता पत्नी को अकस्मात् मिल जाए और वह भी घर के आँगन में, सचमुच, कैसा लगा होगा 'रत्नावली' को? आप स्वतः उस स्थिति में आ जाएँ। मैं आपसे पूछता हूँ, क्या आप उस स्थिति को शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं? क्या, आपकी कलम में ताकत है? क्या, आपके शब्दों में अर्थ-सामर्थ्य है, जो उसको व्यक्त कर सके। मैं तो असमर्थ हूँ। हाँ, बस, इतना ही कह सकता हूँ कि 'रत्ना' छिपकर खूब रोई, सारे वस्त्र भींग गए, रोते-रोते आँखें फूल गईं, सुप्त भावनाओं की असंख्य तरंगें उठने-गिरने लगीं, यादों के प्रभंजन हृदय-तंत्री को झंकृत करने लगे। सचमुच, कैसी स्थिति थी रत्ना के पास? न वह खुलकर बोल सकती थी, और न बिना बोले रह

सकती थीं। विधाता ऐसा दण्ड किसी को न दे। अगर वह बोलती है तो आतिथ्य-धर्म लज्जित होता है, और नहीं तो सभ्यता अपमानित होती है। हाय रे भाग्य! कुटिल ब्रह्मा ने कौन-कौन से ताने बुन रखे हैं किसी के भाग्य में, किसी को पता नहीं।

सुबह हुई, महात्मा जी ने पूजा-पाठ कर चलने की तैयारी कर ली। महात्माजी ने ब्राह्मणी को बुलाकर कहा-माते! आपको मैंने कष्ट दिया, क्षमा करेंगी। इतना सुनते ही ब्राह्मणी उनके पैर पर गिर पड़ी और बोली- 'महात्माजी, मैं आपकी अभागिन पत्नी 'रत्ना' हूँ। यही आपका गाँव और यही आपकी टूटी मड़ैया है। मैं पातिव्रत धर्म निभाती पूजा-पाठ करती यही सोचा करती कि कभी तो मेरे देवता दर्शन देंगे ही। माता शबरी जैसे अपनी कुटिया पर राम को पाकर धन्य हो गई थी, आज वैसे ही मैं आपको पाकर धन्य हो गई। नाथ, अब अपना अन्तिम क्षण मैं आपकी ही सेवा-परिचर्या में बिताना चाहती हूँ। कृपया आज्ञा देकर अभागिनी को धन्य कीजिए नाथ।

तुलसी गृहस्थ धर्म को भूल वैरागी हो चुके थे। अब न उन्हें अपना गाँव याद था, न घर, न पत्नी की कोई सूरत। उन्होंने कहा, 'देवी, मैं दुनियाँ को भूल चुका हूँ। मुझे इन सब चीजों से क्या लेना-देना। मैं ऐहिक रूप, रंग, गंध, स्पर्श, स्वाद, को तिलांजलि दे चुका हूँ। मैं 'प्रिय राम' के अलावे कुछ जानता ही नहीं।' 'मैं जानती हूँ प्रभो, आप एक सिद्ध संत हैं, ख्यात साधु हैं परम वैरागी हैं। पर, जबतक आप इस शरीर में हैं, रोग, संताप तो होंगे ही। कृपया एक सेविका समझ अपने चरण-तल में आश्रय दें प्रभो! मैं आपके पथ का बाधक नहीं बनूँगी, ऐसा विश्वास कीजिए नाथ।'

रत्ना की इतनी विनती के बाद भी तुलसी ने एक न मानी। वे बार-बार कह रहे थे, मैं 'सुख-दुख को भूल चुका हूँ। राम के अतिरिक्त मुझे कुछ नहीं

चाहिए।

अब रत्ना समझ गई कि यह महात्मा (मेरे पति तुलसीदास) बार-बार अपनी साधुता की दुहाई दे रहे हैं, इन्हें थोड़ा झकझोरा जाए। इन्हें पहचान कराई जाए कि एक गृहस्थ की भगवत्तत्त्व की समझ रखता है। रत्ना थोड़ा गंभीर हो गई। उसने कहा, 'मैंने भी चारों ओर आपकी प्रशंसा सुनी है। आप इस समय साधुओं में अग्रगण्य हैं, आपको भगवान् राम के अलावे कोई प्यारा नहीं, यही दुनियाँ जानती है। लेकिन मैं ऐसा नहीं समझती'।

तुलसी ने कहा- 'देवि, मुझ पर यह सदेह कैसा? क्या मैं नित्य-नैमित्तिक क्रियान्वयी नहीं? क्या, साधु-सदृश पवित्राचरण मुझमें नहीं है? क्या मैं तप-शील में भ्रष्ट हूँ? जल्द बताइए देवि, मुझे गहरी चिन्ता सता रही है।'

रत्ना ने कहा, 'नाथ, बात आज की नहीं, बहुत पहले की है। जब मैं पहले-पहल इस घर में आई, और आपको भोजन कराने बैठी, आपने थाली में नमक-मिर्च नहीं देख मुझे भंसे से 'नमक-मिर्च लाने को कहा। उस समय आप एक गृहस्थ और नव विवाहित युवक थे। इस घटना के आज दशको बीत गए, आप वहीं के वहीं हैं। नमक-मिर्च तब भी प्यारा था और आज भी। नाथ, राम तो आपमें मुझे कहीं दिखते ही नहीं। अगर राम होते तो यह नमक-मिर्च न होता।'

तुलसी बात समझ गए, तुरत झोली से बटुआ निकाला और फेकते हुए कहा, देवि, आपका यह दूसरा उपदेश मैं स्वीकार करता हूँ। आपका यह तुलसी नमक-मिर्च आगे कभी नहीं खाने का वचन देता है।

इतना कह, तुलसी ने अपनी राह ली।





मुरली

डॉ. उषा रानी

वर्तमान समय में प्राचीन वाद्ययंत्रों की भूमिका को अवहेलित कर नये वाद्ययंत्रों को प्रतिष्ठित किया जा रहा है, पन्तु, प्रस्तुत आलेख में डा. उषा रानी ने मुरली की महत्ता को दिखाते हुए यह बतलाने का स्तुत्य प्रयास किया है कि आज भी मुरली की भूमिका वर्तमानकालिक नव्य वाद्ययंत्रों के बीच भी तद्वत् संप्रतिष्ठित है। अपने कथ्य के स्थापन में लेखिका ने 'इंडिया गोज टैलेंट' के समापन के दिवस पर विभिन्न कलाकारों, राग-रागिणियोंक बीच मुरलीवाद्य कलाकार द्वारा बाजी मार लेने की अहम् भूमिका का उल्लेख कर मुरली को वर्तमान समय के लिए भी स्वीकार्यता प्रदान की है। इस आलेख की विषयवस्तु प्राचीन होते हुए भी आज नवीन है। अतः पठनीय है।



हाल ही में एक टी.वी. रियलिटी शो 'इंडिया गोज टैलेंट' का समापन हुआ, जिसने हर घर और सबके दिलों में अपनी एक खास जगह बनाई। इसमें कई दिग्गज प्रतिभागियों को सिरे से पछाड़ते हुए एक मुरली वादक कलाकार ने प्रथम पुरस्कार ही नहीं जीता, वरन् अपनी अलग पहचान भी बनाई, जो वाकई काबिले तारीफ है।

उसकी मुरली ने सभी के हृदय तंत्री के तार झंकृत कर दिये और मुझे तो श्रीकृष्ण की मुरली की वह मधुर तान स्मरित हो आई, जिसपर पूरी सृष्टि न्योछावर थी, तो उसी नाते आज कृष्ण कन्हैया की उस मुरली पर कुछ चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। संगीत की सुरमई रंग बरसाती मुरली, सुर, श्रुतिमय, सुन्दर रंग बिखेरती मुरली। "मुरली"- बंसरी, बांसुरी, वंशी, वंशिका- कई सुन्दर नामों से जानी जाती है। बांसुरी का इतिहास अति प्राचीन है। प्राचीनकाल में लोक-संगीत का प्रमुख वाद्य यंत्र थी यह मुरली।

अधर धरे मोहन मुरली पर,

होठ पे माया विराजे, बाजे रे मुरलिया बाजे...।

मुरली और श्रीकृष्ण एक दूसरे के पर्याय रहे हैं। मुरली के बिना श्री कृष्ण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनकी मुरली के नाद रूपी ब्रह्म ने सम्पूर्ण चराचर सृष्टि को आलोकित और सम्मोहित

किया।

चाँदनी रात, कृष्ण की मुरली का मोहक स्वर, भला गोपियाँ गुमसुम अपने घरों में कैसे बैठी रहती? वह दौड़कर भागी-भागी कृष्ण के पास आती हैं और कृष्ण के समझाने पर भी नहीं समझती। उन्हें तो विश्वास हो गया है कि- "कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थः प्रभुः।" फिर जागतिकता से उन्हें क्या लेना देना? श्रीकृष्ण षोडश कला पूर्ण ब्रह्म हैं। वे सभी रसों के आश्रय हैं। इसका सामान्य अर्थ हैं, पूर्ण अखण्ड आनंद की प्राप्ति, तज्जन्य-आत्मा विस्मरण और तन्मयता की अवस्था-

मुरली मधुर बजाई श्याम।

मन हरि लियौ, भवन नहिं भावै,

व्याकुल ब्रज की बाम।

रास के लिये मुरली की ध्वनि ही गोपिकाओं को सहज आमंत्रण दे आती है। 'रास लीला' में मुरली का स्थान अत्यंत ही महत्वपूर्ण है। उसी से नृत्य में लयात्मकता आती है। डॉ० मुंशी राय शर्मा की मान्यता है- "मुरली क्या है? मानों, भगवान् की कार्य साधिका-यंत्र रूप माया है, जो विश्व के समग्र भूतों को अपने-अपने कार्य में निरत कर रही है। गोपिकाओं का यह कार्य कृष्ण के पास जाना और अध्यात्म-पक्ष में जीवात्माओं का परमात्मा की

और उन्मुख होना है। रास का सर्वाधिक स्वाद तो मुरली को ही मिला। वही तो श्याम के अधरों पर बैठी रहती है-

समाधि निर्धूत मलस्य चेतसो
निवेदितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्॥

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तः वर्णेन गृह्यते॥

गूंगा व्यक्ति मिठाई खाकर उसके स्वाद को भला कैसे बता सकता है? हाँ, सिर भले हिला दे। मुरली को अदभुत प्रभाव भी शब्दों द्वारा अभिव्यञ्जनीय नहीं।

‘सूर साहित्य’ में डॉ. हजारी प्रसाद की मान्यता उल्लेख्य है- “समस्त सूर सागर में सूरदास की व्याकुल आत्मा नाना-भाति से चीत्कार कर उठती है।”- श्री कृष्ण ग्वालवालों के संग अहर्निश मुरली बजाया करते हैं, पर उनकी प्यास नहीं बुझती। श्री कृष्ण के वंशी वादन की कला पर अपनी विचारणा प्रस्तुत करते हुए ‘सूरनिर्णय’ में परीख और मितल ने कहा है- “श्रीकृष्ण वंशी बजाने की कला में अत्यन्त निपुण है। वे जब भी वंशी बजाते हैं, तब समस्त विश्व को आनंद विभोर कर देते हैं। वे यशोदा के लिये अबोध बालक हैं, किन्तु गोपियों के साथ तरूण प्रगल्भ नायक का-सा व्यवहार करते हैं।”- सूर ने मुरली विषयक अनेक पदों की संरचना की है। अन्य भक्त कवियों का भी आकर्षण इस ओर देखता है। मूल में यह प्रसंग ‘श्रीमद्भागवत्’ में उद्धृत है, इसे ‘वेणु गीत’ की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य ने भागवत की अपनी ‘सुबोधिनी टीका’ में उक्त ‘वेणु गीत’ की चर्चा करते हुए लिखा है कि वेणु गीत से भगवान के नामात्मक एवं रूपात्मक स्वरूपों में से नामात्मक स्वरूप का बोध होता है। पुनः, वे वेणु शब्द की उत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं- ‘व’ से उस ‘ब्रह्म सुख’ को ग्रहण किया जा सकता है, जिसके सम्मुख ‘इ’ संसार का सुख ‘अणु’ नगण्य बनकर लुप्त हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है, जो निःसाधन जीवों को भगवान् के आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त होता है।

आ० वाजपेयी का मत उनके ग्रंथ ‘सूरदास’ में इस प्रकार है- “जहाँ तक कविता का प्रयोजन है,

कवि के ये पद पूर्ण रूपेण सरस हुए हैं, जिनसे यह व्यञ्जित है कि ‘सूर’ स्वयं तो संगीतज्ञ थे ही, संगीत के रहस्य से भी अगवत थे। सच ही है, जब बिहारी जैसे कला मर्मज्ञ के हृदय में ‘तंत्री नाद कवित रस’ का आस्वाद मिल चुका था तो सूर का क्या कहना? ”

मुरली की ध्वनि आध्यात्म क्षेत्र में भी असामान्य है। डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा, ब्रज भाषा की विभूतियों में इसका उल्लेख करते हैं- ‘मुरली’ शब्द ब्रह्म का प्रतीक है। भारतीय चिन्तकों ने विशेषतः वैयाकरणों ने ‘शब्द’ को ‘ब्रह्म’ का प्रतीक माना है। संगीत शास्त्र में इसे ही ‘नाद ब्रह्म’ की संज्ञा दी गयी है। कबीर आदि निर्गुण संतों का ‘अनहद नाथ’ इसी की ओर इंगित करता है। इस नाद का श्रवण साधना की उच्चतम अवस्था में पहुँच कर ही किया जा सकता है। इसके श्रवण के पश्चात् कुछ सुनने को शेष नहीं रह जाता। वह ‘सोऽहम्’ अहं ब्रह्मस्मि’ की स्थिति में पहुँच जाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व अत्यन्त ही स्पष्ट है- मनुष्य का सारा वाङ्मय, सारा ज्ञान, विज्ञान उस ‘शब्द ब्रह्म’ से व्युत्पन्न है। यह नाद ब्रह्म की शक्ति है, तथा इससे समस्त ब्रह्माण्ड प्रभावित है। नन्ददास ने तो ‘मुरली’ को नाद ब्रह्म की जननी भी संज्ञा से संज्ञाचित किया है। देखिए न,-

जाके धुनि तै अगम-निगम प्रकटे बड़ नागर।

नाद ब्रह्म की जननि, मोहिनी सब सुख सागर।।

जब किसी मनुष्य को प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, तब उसके सामने वंशी बजने लगती है। इस प्रकार ‘मुरली ध्वनि’ ब्रह्मानन्द से भी अतिशय आनंद दायिनी है। वह आनन्द का सार है। यहाँ सूर द्वारा वर्णित मुरली प्रभाव की व्यञ्जना दर्शनीय है- छबीले मुरली नेकु बजाउ।

बलि बलि जाति सरवा यह कहि-कहि,

अधर सुधारस प्याउ।।

कृष्ण की मुरली से सृष्टि के अमर प्रेम का सबल संगीत हठात् स्फुरित हो उठा। यह वंशी रस किसे व्यामोहित करने का सामर्थ्य नहीं रखता? गोपियाँ मुग्ध हुई, विवश हुई और प्रेम में गहरी उतर गईं। सूरदास के गीति पद अनिवार्यतः गेय है। वस्तुतः उनकी रचना जिस अनिवार्य हार्दिक प्रेरणा से हुई है,

वह मूलतः संगीतमय है।

सौन्दर्य और संगीत का अभेद संबंध है और मुरली तो एक वाद्ययंत्र ही है, जिसका भी संबंध संगीत से अपरिहार्य ही माना जा सकता है। भगवान के वरदहस्त की जब ऐसी स्थिति है तो स्वयं भगवान् का क्या कहना? आचार्य वाजपेयीजी इस विषय में कहते हैं- “तुलसी के नाम की महिमा तो बुद्धि ग्राह्य है, किन्तु सूर की वंशी की महिमा आंखों के सामने दिखाई पड़ती है। सच है, सूर की वंशी में नाम की महिमा अधिक सुरीली होकर व्यंजित होती है। राम का सौन्दर्य इस पक्ष में अधिक मुखवत् है। मुरली के सूर ने विविध रूपों से चित्रित किया है। यह गोपियों से स्पर्द्धा करनेवाली, राधा की सपत्नी के रूप में भी ‘सूर सागर में आई है’- “अधर रस मुरली सौतिन लागी।

जा इसको सट ऋतु तप किन्हीं,
सो रस पिवत सभागी।।

गोपियों की तो बात ही क्या स्वयं कृष्ण भी नाकोदम गये हैं- “मुरली तइ गोपालहि भावत।”

सुनरी सरखी वदपि नंद नंदन,
नाना भाँति नचावति।।

कबीर ने प्रेम की एक निष्ठता पर प्रकाश डालते हुए-

पीया चाहे प्रेम रस राखा चाहे मान।

एक म्यान में दो खड़ग, देखा सुना न कान।।

सारे दुःखों की जड़ मुरली को ही मानती गोपि-कृष्ण की मुरली ही चुरा लेने की बात सोचती हैं। किन्तु मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है यह। वे कृष्ण को मुरली के पीछे भागते देख जलभुन जाती है। कृष्ण वंशी के प्रेम पाशा में इस प्रकार उलझे हैं कि कभी उसे छोड़ते ही नहीं। वे मुरली को कृष्ण से दूर करने को सोचती हैं। किन्तु सूरदास मुरली की तपस्या की ओर भी संकेत कर देते हैं, तब उनकी धारणा ही बदल जाती है। जहाँ वे सोचती थी-

सरखी री मुरली लीज चोर।

जिन गोपाल किन्हि अपने वस,

प्रीति सब नीकि तोरी।।

वे ही आज सोचती हैं- “मुरली तप कियो तन गारि।।”

-तपस्या से ही कृष्ण को उसने वशीभूत कर लिया जिस मुरली ने समस्त संसार पर अपनी विजय पाई है, उसे गर्व होना ही चाहिए। वंशी पर सूर ने अनेक उदात्त कल्पनाएँ की हैं- “वंशी विधि हूँ ते परवीन।”- पद में उसे प्रह्ला से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। ब्रह्मा तो चार ही मुख से उपदेश देते हैं, किन्तु वह तो आठ मुखों (रन्ध्रों) वाली है। वे कमल पर विराजमान है, पर यह तो कर कमल पर विराजती है। ब्रह्म एक हंस की सवारी करते हैं, पर मुरली गोपी के मानस-हंसों पर सतार होती है। सबसे महत्वपूर्ण तो यह कि लक्ष्मी जिस भगवान् के पद रेणु की कामना करती हैं, उन्हीं के अधरामृत पान का सुअवसर उसे प्राप्त है।

आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ‘सूर साहित्य’ में इसकी परिचर्चा में अपने मनोभावों को इस प्रकार व्यक्त किया है- “अगर कोई हम से पूछे कि ‘सूर सागर’ का केन्द्रीय वक्तव्या क्या है? तो बिना किसी हिचकिचाहट के चिल्ला उठेंगे- “छबीले मुरली नेकु बजाइ।।”

संदर्भ सूची-

- (1) सूर साहित्य : हजारी प्रसाद द्विवेदी।
- (2) सूरसागर : सूरदास, हिन्दी भवन प्रकाशन।
- (3) ब्रजभाषा की विभूतियाँ : डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा
- (4) सुबोधिनी टीका : आ. श्री बल्लभाचार्य।
- (5) सूर निर्णय : श्री परीख और मित्तल।
- (6) सूरदास : आ. वाजपेयी।
- (7) कबीर ग्रंथावली
- (8) गाल्वे जेम्स, 1982, फल्यूट: येहुदी मेनुहिन, संगीत मार्गदर्शिकाएं, लंदन।
- (9) बी.बी.सी. - प्राचीन संगीत वाद्ययंत्र की खोज : 25. 06.2009
- (10) हिन्दुस्तानी संगीत कोश (शास्त्रीय) : विमलकांत-राम चौधरी, मोती लाल बनारसीदास प्रकाशन : कलकत्ता।

विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी.के. कॉलेज
डुमरांव (बक्सर)



क्या, बस यही ज्ञान है?

अवधेश मिश्र

‘ज्ञान’ कोश का वह लघुतम शब्द है, जिसे एकाक्षर तुल्य ही माना जा सकता है, क्योंकि ल्युट् प्रत्यय लगकर ही यह द्व्यक्षर रूप धारण करता है। परन्तु, यह कितना आश्चर्य है कि अपनी लघु कायावाला यह शब्द अर्थगाम्भीर्य की दृष्टि से अथाह समुद्र है, असीम आकाश है। ज्ञान का कोई मापक पैमाना नहीं। यह ज्ञान अल्प समझवाले हम मनुष्य की समझ से सर्वथा बाहर है, फिर भी, प्रस्तुत आलेख में यह समझाने का भरपूर प्रयास किया गया है कि वस्तुतः, ज्ञान को दार्शनिकों ने किन-किन रूपों में देखा है, तथा व्याख्यायित किया है। सचमुच, ज्ञान की कोई सीमा नहीं। हम जहाँ खड़े हैं, जिसे समझ रहे हैं कि यह अन्तिम ज्ञान है, वस्तुतः यह ज्ञान की प्रथम सोपान भी नहीं है। अतः यह मान लेना कि मैंने इसे भरपूर समझ लिया, यह अधूरी बात है। सच यह है कि आज तक किसी ने किसी को समूल रूप से जाना ही नहीं है। तभी तो विज्ञान के नित्य नये आविष्कार हो रहे हैं, पुस्तकों के भाष्य और वार्तिक लिखे जा रहे हैं। इसी सत्य की खोज प्रस्तुत आलेख का विषय है।

सर्वोत्तम जीवन, मानव जीवन, चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण के उपरान्त प्राप्त जीवन, विवेक-अविवेक से भरा जीवन, ज्ञान-अज्ञान से युक्त जीवन, हजारों-हजार वारों से जीवन में सुख-समृद्धि की खोज में लगा विवेकपूर्ण जीवन, अंधकार से प्रकाश की ओर उन्मुख साधनारत जीवन, नित्य नये-नये नियमों का निर्माता जीवन। जीवन के इन अनेक रंगों में सराबोर मानव, अपने ज्ञान-चक्षु से जीवन को देखना चाहता है। इसी क्रम में जीवन के प्रति मानवीय अन्वेषण सतत अग्रगामी रहता है। वहीं हमारे बीच कुछ ऐसे जीवन भी हैं जिसमें अज्ञानता है, अन्तर्द्वन्द्व है, ना समझ है, अविवेकता है और है जीवन की गहरी अन्तर्वेदना, धधकता प्रतिशोध। ठीक ही है, यदि अज्ञान नहीं होता तो ज्ञान का अनुसंधान असंभव था, अगर मानव अविवेकी नहीं होता तो विवेकी मानव का प्रादुर्भाव हो ही नहीं सकता था। अन्याय के कारण ही ज्ञानी मानव न्याय की अवधारणा में जी उठा। अत्याचार ही प्रतिशोध का भाव जाग्रत करता है और

समाज में क्रान्ति का सूत्रपात होता है। क्रान्ति से परिवर्तन होता है और होता है सामाजिक उथल-पुथल। इसे हम समाज में एक नयी सृष्टि का सर्जन कह देते हैं।

अब यह जान लेना आवश्यक है कि ज्ञान क्या है? क्या ज्ञान उन चीजों या बातों को जानना है, जो न तो पहले देखा है, न सुना है। जैसा कि हम जानते हैं, ज्ञान का प्रतिलोम अज्ञान है, अतएव, ज्ञान के पूर्व अज्ञान ही होता है, अज्ञान से ही ज्ञान की ओर मानव अग्रगामी होता है, इसे ही वेदों में “तमसो मा ज्योतिर्गमय, असतो मा सद् गमय” से व्याख्यायित किया गया है। कहने का तात्पर्य अंधकार से प्रकाश की ओर अग्रगामी होना, इसमें अंधकार ही अज्ञानता है। अंधकार से प्रकाश की ओर मानव सतत अग्रगामी रहता है और अज्ञान को ज्ञान की प्रखर किरणों से दीप्तिमान करने का अपने सामर्थ्य तक प्रयत्न करता है एवं जीवन पथ पर अग्रगामी होता है। ज्ञान पथ पर अग्रगामी होना ही मानव जन्म की अन्तिम परिदशा होती है।

इन पक्तियों के उद्धरणोपरान्त भी यह यक्ष प्रश्न यथावत् कायम है कि वास्तव में ज्ञान क्या है? इनका समागम मानव मन में कब और कैसे होता है? कौन देता है यह ज्ञान? क्या ज्ञान की अवधारणा केवल मानव में ही किया जा सकता है या अन्य सभी छोटे-बड़े प्राणधारियों में भी?

सभी सजीव प्राणियों में कुछ ऐसा गुण परिलक्षित होता है जिसे ज्ञान ही कहा जा सकता है। ज्ञान प्राप्ति के लिए मानवों में तथा कुछ अन्य प्राणियों में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, जिनका उपयोग कर वे भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञानार्जन करते हैं। इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा श्रव्य ज्ञान, दृश्य ज्ञान, घ्राण ज्ञान, स्पर्श ज्ञान और स्वाद ज्ञान प्राप्त करते हैं। फिर भी यह प्रश्न विचारणीय है कि संसार में या ब्रह्माण्ड में जितने भी प्राणी हैं उनमें ज्ञानोपार्जन हेतु केवल ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं या अन्य साधन उपलब्ध हैं, जिनका वे सतत उपयोग भी करते हैं। एक पशु अपने श्रव्य ज्ञान के कारण स्वयं से अलग हो गये, अपने साथियों की आवाज सुनकर उसी दिशा की ओर अग्रगामी हो जाते हैं और उनसे जा मिलते हैं। एक स्वान अपने घ्राण ज्ञान के कारण मीलों-मील की दूरी तय कर पुनः अपने वास्तव्य पर लौट आता है। इसी घ्राण ज्ञान के कारण आज वह कई अविश्वसनीय कार्य करते हुए खतरनाक अपराधियों को भी पकड़वाने में अपना सहयोग प्रदान कर रहे हैं। पशु-पक्षी बुभुक्षा या प्यास की अनुभूति होते की अपने ईच्छित पदार्थ की ओर अनुगामी होता है, क्या इसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता? पाल्य पशुओं में अपने पालनहार के प्रति प्रेम और शत्रुओं के प्रति घृणा का भाव स्पष्ट देखा जा सकता है। क्या इसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता? पादपों एवं वृक्षों में ऐसी कई बातें देखी जाती हैं जिससे यह प्रतीत होता है कि इनमें भी सुख-दुख की अनुभूति है। इसे वनस्पति एवं जैव वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों में साबित कर दिखलाया है। क्या उनमें पाई जानवाली इन प्रवृत्तियों का ज्ञान नहीं कहा जा सकता?

अब ज्ञान के विभिन्न प्रकारों की ओर विचार आवश्यक है। यों तो ज्ञान को प्रकारों में विभक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान, ज्ञान है, उसे खण्डित करना असंभव है। खण्ड ज्ञान हमेशा अधूरा होता है। अतः ज्ञान की पूर्णता ही ज्ञान है।

फिर भी ज्ञान को हम सामान्य ज्ञान एवं असामान्य ज्ञान कह सकते हैं। सामान्य ज्ञान हम अपने ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अर्जित कर सकते हैं, जो स्पर्श, घ्राण, श्रवण, दृश्य और स्वाद द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार का ज्ञान अर्जन बालक, किशोर युवा, वयस्क एवं वृद्ध सभी करते हैं। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति के लिए न तो साधना की आवश्यकता होती है, न विशिष्ट अध्ययन की। इस प्रकार का ज्ञान प्राणी जन्म से मृत्यु तक अर्जित करते रहता है। इनसे हमें कुछ स्मरण में रह पाते हैं और कुछ विस्मृत हो जाते हैं।

अब असामान्य ज्ञान के संबंध में भी जानना आवश्यक है। असामान्य ज्ञान उच्चस्तरीय ज्ञान है, जिसमें व्यक्ति जैसे ज्ञानों की अनुभूति करता है, जो सर्व सामान्य के लिए संभव नहीं है। जिसके परीक्षण में हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ भी असमर्थ रहती हैं। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति हेतु हमें कठिन साधना, अध्ययन एवं आत्म ज्ञान की आवश्यकता होती है। कभी-कभी इस प्रकार का ज्ञान आत्म-उद्भेदन से स्वतः प्राप्त होने लगता है, तो कभी अर्ध चेतनावस्था में प्राप्त हो जाता है। इसलिए, ऐसे ज्ञान को दैविक ज्ञान कहते हैं। यह सभी को नहीं मिलता है, कुछ खास मनुष्य में यह अनुभूति होती है। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति हेतु अपना सर्वस्व परम शक्ति के चरणों में अर्पित करते हुए उनके प्रसाद स्वरूप हम अपना मानते हैं। जिसमें इस प्रकार का ज्ञान आता है वह समदर्शी बनकर अपना अहंकार त्यागकर गहन चिंतन-मनन में लग जाता है और उस गुरु में अपना तन-मन अर्पित कर उस परम ज्ञान का रसास्वादन कर आनन्द की प्राप्ति करता रहता है। वही परम साधक अपने आत्मा को अंधकार से

प्रकाश की ओर अग्रगामी करता है तथा साम्यवादी बनकर कठिन साधनारत होता है। ऐसा साम्यवादी उन्नति-अवनति, ज्ञान-अज्ञान, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा सभी को एक दृष्टि से देखता है तथा सबके कल्याण के लिए कर्मवादी बनकर कठिन साधनारत रहता है। वास्तव में साम्यवाद कर्मवाद का ही एक स्वरूप है, किन्तु यह साम्यवाद वर्तमान राजनैतिक साम्यवाद से बिल्कुल भिन्न है।

वर्तमान साम्यवाद ईश्वर की सत्ता का अविश्वासी है, वह ईश्वर विरोधी है, धर्म का नाशक है, हिंसा का समर्थक है अर्थात् समता की स्थापना में हिंसा का आश्रयधारक है और स्वार्थमूलक बनकर दिशा विहीन है वर्तमान राजनैतिक साम्यवाद। वह स्पर्शादि एकता रखकर आन्तरिक भेद-भाव में विश्वास रखता है। अर्थात् वह छूआछूत में विश्वास नहीं रखकर आन्तरिक वैचारिक भेद-भाव का प्रश्रयदाता है। इस प्रकार इस साम्यवाद का उद्देश्य केवल और धानोपासना और अपने दल का अभियान है। वह दूसरो के प्रति अनादर का भाव रखता है। इसके कारण वर्तमान साम्यवादी बाहरी व्यवहार की प्रधानता लेकर भौतिक सुख का अधिष्ठाता बन बैठा है, किन्तु प्रकटतः वह पूंजीवाद का विरोधी है, अतः दक्ष प्रवृत्तिधारक है। इस साम्यवाद में प्रधान और परमत से असहिष्णुता का भाव है। यही कारण है कि वर्तमान साम्यवाद राग-द्वेष से भरा पड़ा है। वर्तमान नक्सलवादी साम्यवादी इसी कोटि में संयोजित किया जा सकता है।

अब ज्ञात युक्त साम्यवाद पर दृष्टि करने पर हम उसे ईश्वर की साधाना के द्वारा अलौकिक-असामान्य ज्ञान प्राप्त कर धनोन्नयन मार्ग प्रशस्त पाते हैं। वह अहिंसा में आस्था रखते हुए समता-समानता स्थापित करने में लगा रहता है। वह समस्त मानव और सभी जीवों का कल्याण कारी होता है। उसमें, स्वार्थ का लेश मात्र स्पर्श नहीं होता वह स्पर्शादि में शास्त्रानुसार मर्यादित भेद रखकर भी आन्तरिक भेद नहीं रखता। अभिमानशून्य होकर

सभी में ईश्वर दर्शन करते हुए आदर सम्मान का भाव रखता है, अध्यात्मिक सुख का ही जीवन का मुख्य उद्देश्य मानकर राग द्वेष से उपर उठकर सभी जीवों के साथ समान व्यवहारी होता है। ज्ञान का सम्बन्धा गुणग्राही होता है इसी लिए ज्ञानी गुणज्ञ होते हैं। ज्ञानियों में सामान्य, असामान्य लौकीक अलौकीक गुण भरे होते हैं और अपने गुणों से लोक-कल्याण करके वह आत्मानंद मस्त रहता है। गीता में महर्षि व्यास ने गुणों की व्याख्या करते हुए इसे तीन कोटि में रखकर गुण की व्याख्या की है। जिसे सात्त्विक, राजसी एवं तामसी सगुण की संज्ञा दी है।

सात्त्विक ज्ञान प्राप्त व्यक्ति का भाव या क्रिया की पहचान बताते हुए कहा है जिस व्यक्ति के भाव या क्रिया का संबंध स्वार्थ से न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममता न हो तथा जिसका फल सत्य की खोज हो ऐसे ज्ञान को उन्होंने सात्त्विक ज्ञान कहा है। राजसी वृत्ति से राजसी भाव राजसी क्रिया उत्पन्न होता है तदनु रूप व्यक्ति राजसी गुणवाला होता है। ऐसे गुण ज्ञानी की क्रियाओं में लोभ-स्वार्थ एवं आसक्ति का भाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। इस प्रकार का जातक जैसे कर्मों में संलिप्त रहता है जिसका फल क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार के ज्ञान से तात्कालिक एवं अस्थायी सुख शांति प्राप्त होता है किन्तु अंतिम परिणाम दुःख उत्पन्न करनेवाला दुःखकर्ता होता है। इस प्रकार का गुण व्यक्ति को न ज्ञान की पूर्णता प्रदान करता है न सर्वजन कल्याण के लिए प्रेरित करता है। वचनो में छल प्रपंच, कर्मों में प्रदर्शन एवं प्रत्यक्ष में भलाई तथा परोक्ष में निंदा-अकल्याण युक्त होता है। वर्तमान राजनैतिक परिदृश्य में ऐसे गुण-ज्ञान की झलक स्पष्ट परिलक्षित होता है।

अन्तिम भाव या कर्म तामस है जिससे तामसी ज्ञानोत्पत्ति का सूत्रात होता है। इस प्रकार के ज्ञान से युक्त जातक मोह एवं प्रमाद से युक्त होकर पर पीड़व एवं अहितकर कर्मों में लिप्त रहते हैं। वह लोक निंदा का भी ध्यान नहीं देते, बार-बार

दण्ड पाकर भी पुनः-पुनः उन्ही कर्मों में लिप्त रहते हैं। महर्षि व्यास ने ऐसे ज्ञानधारी को अज्ञानी की संज्ञा दी है।

अन्त में “असतो मा सद्गमय” में ज्ञान की परम स्थिति सत्यान्वेषण है। जिसमें सत्य की प्राप्ति कर ली वही ज्ञानी है। सत्य के अतिरिक्त पृथ्वी या तीनों लोकों में कोई दूसरा ज्ञान ही नहीं है। सत्य ही विज्ञान है सत्य ही हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाता है। अतः सत्य अन्तिम ज्ञान है। आदिकाल से ही सत्य की खोज में इसे परिभाषित करने के लिए साधक साधनारत रहे हैं और अपने अन्तरात्मा में आलोकित ज्ञान को ही सत्य की सीमा मन लेता है, परन्तु आगे चलकर वहीं साधक अपने उसी ज्ञान को अन्तिम ज्ञान नहीं मानता। इस प्रकार हम कह

सकते हैं कि साधना की एक किरण कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य ही हमें ज्ञान की पूर्णता प्राप्ति हेतु सतत साधनारत रहने की प्रेरणा देता रहता है और जब हम किसी ज्ञान की अन्तिम सीमा पर पहुँचते हैं तब हम पाते हैं कि जिस ज्ञान को हमने अन्तिम ज्ञान या पूर्ण ज्ञान समझ लिया है वह ज्ञान मृगतृष्णा की भाँति है। हाँ, वह सत्य की खोज में एक पतली पगडंडी बन कर आगे सुगम एवं साध्य की ओर ले जाने में सहायक बन सकता है। सत्य का पूर्ण अन्वेषण यदि संभव हो जाता तो ‘असतो या सद्गमय’ अपने नैसर्गिक रूप में आज भी महत्त्वपूर्ण नहीं रहता। सत्य ही स्वयं साधान है और स्वयं साध्य। सत्य ईश्वर का सच्चा स्वरूप है। अतः इसमें अन्तता का भाव नहीं हो सकता।

से.नि. शिक्षक, बि. शिक्षा सेवा

अहंकार को मारना जरूरी

महाराष्ट्र के पुण्यनक्षत्र सन्त ज्ञानेश्वर, नामदेव तथा मुक्ताबाई के साथ तीर्थाटन करते हुए प्रसिद्ध सन्त गोरा कुम्भकार के यहाँ पधारे। सन्त समागम हुआ, वार्ता चली। तपस्विनी मुक्ताबाई ने पास रखे एक डण्डे को लक्ष्य कर गोरा कुम्हार से पूछा, “यह क्या है?”

गोरा कुम्भकार ने उत्तर दिया - “इससे ठोककर अपने घड़ों की परीक्षा करता हूँ कि वे पक गये हैं या कच्चे ही रह गये हैं”, गोरा ने उत्तर दिया।

मुक्ताबाई हँस पड़ीं, बोली, “हम भी तो मिट्टी के ही पात्र हैं। क्या इससे हमारी परीक्षा कर सकते हो?”

‘क्यों नहीं’, कहते हुए गोरा उठे और वहाँ उपस्थित प्रत्येक महात्मा का मस्तक उस डण्डे से ठोक-ठोककर देखने लगे। उनमें से कुछ ने इसे विनोद माना, कुछ को रहस्य प्रतीत हुआ। किन्तु नामदेव को बुरा लगा कि एक कुम्हार उन जैसे सन्तों की एक डण्डे से परीक्षा कर रहा है। उनके चेहरे पर क्रोध की झलक भी दिखाई दी। जब उनकी बारी आयी तो गोरा ने उनके मस्तक पर डण्डा रखा और बोले, “यह बर्तन अभी कच्चा है।” फिर नामदेव से आत्मीय स्वर में कहा, “तपस्विश्रेष्ठ, आप निश्चय ही सन्त हैं, किन्तु आपके हृदय का अहंकाररूपी सर्प अभी मरा नहीं है, तभी तो मानापमान की ओर आपका ध्यान तुरन्त चला जाता है। यह सर्प तो तभी मरेगा, जब कोई सद्गुरु आपका मार्गदर्शन करेगा।”

संत नामदेव को बोध हुआ। स्वयंस्फूर्त ज्ञान में त्रुटि देख उन्होंने सन्त विठोबा खेचर से दीक्षा ली, जिससे अन्त में उनके भीतर का अहंकार मर गया।



एक संत की जीवन-यात्रा

घनश्याम दास हंस

विश्व के प्रायः सभी धर्मों के लोग परमात्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं। अज, अमर अचल, अक्षर अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर सर्वशक्तिमान है। दिव्य शक्ति से परिपूर्ण परमात्मा एक है। हम सब उनका संतान हैं, उस परमात्मा का एक अंश है। ब्रह्म एक आत्मा अनेक हैं।

**ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुख राशी॥**

हे देहधारियों! तेरे शरीर रूपी मन्दिर में निवास करनेवाला जीवात्मा ईश्वर का एक अंश है, अविनाशी है, उसका कभी नाश नहीं होता। हे चेतनशील प्राणी, ब्रह्म की परमार्थवादिता को ध्यान में रखते हुए तू भी धन, आयु, विद्या यश और बल के दम्भ से दूर रहकर अपने मन को बस में रखते हुए पर उपकारी बनो। तभी आप सुखी रह सकते हैं; अमन-चैन की जिन्दगी जी सकते हैं। ऐसा संतो का कहना है।

जीवन में कई ऐसे क्षण आये जब प्रभु की कृपा को महसूस किया। असहनीय क्षणों में जब जब उनको याद किया, तब-तब उन्होंने आकर मुझे उबार लिया। प्रभुनाम से जीवन संवरते देखा, पत्थर पर दूब निकलते देखा; वह परब्रह्म पिता हमारी आत्मा में बसा, हमारा मन, हमारा प्राण है, हमारा जन्मदाता, सच्चा पथ प्रदर्शक, सच्चा शुभचिन्तक, परममित्र, हमारा सच्चा गुरु है वह सदा सर्वदा पूजनीय व वन्दनीय है।

प्रातःस्मरणीय एक यायावर संत काशी विश्वनाथ शिवजी के मन्दिर में गये। बाबा विश्वनाथ शिव के मनमोहक विशाल छवि का दर्शन किये, लेकिन उस

छवि को, उस मूर्ति को भूल न पाये। हर हर गंगे महादेव, काशी विश्वनाथ की जय का जाप करते रहे। हृदय में एक ही रूप दिखाई देने लगा उनका मन हुआ कि फिर मन्दिर जाऊँ, पर ऐसा सम्भव नहीं हो सका। रात भर 'हर हर गंगे', 'महादेव काशी विश्वनाथ की जय' का जाप करते रहे और उनको नींद न आई। सुबह होते ही वे फिर बाबा विश्वनाथ शिवजी के मन्दिर पहुँच गये।

ज्योतिर्लिंग का स्पर्श कर माथा टेक उनकी प्रतिमा के सामने बैठ ध्यान मग्न हो गये। वहाँ ऐसी शान्ति व अपनापन मिला जैसे भगवान शिवजी वरद मुद्रा में अपने पास बैठे हैं। आशीर्वाद की झड़ी लगा मानो वे कहते हैं तू इतना बेचैन क्यों? मैं तो तेरे पास हूँ जो मुझ पर विश्वास करता है; मुझको याद करता है; शरणागत हो पूजन-अर्चन करता है; मुझको भजता है; मैं सदैव उसके निकट रहता हूँ; उसके मन-मन्दिर में वास करता हूँ। सब विधि से रक्षा कर उसका लोक-परलोक को भी सुधार देता हूँ।

गुरुजी कहते थे कि बाल अवस्था में ही उन्हें ऐसा अद्भुत आशीर्वचन तथा अनुभव गम्य शान्ति प्राप्त हुआ। मेरी स्मृति जागृत हो गयी। मुझे सबमें देवो के देव महादेव शिव के दर्शन होने लगे। इससे मेरी आत्मशान्ति, श्रद्धा एवं विश्वास और पुष्ट हो गयी। फिर मेरे नाभिकुण्ड से उद्वेलित होकर अजपा जाप स्वरूप मंत्र - "हर हर गंगे महादेव काशी विश्वनाथ की जय" हर श्वास के तिरोहित हो गया। माला की तरह गुंथकर श्वास में सुमिरनी बन गया। दर्शन करने के बाद ऐसा लग रहा है कि बम-बम भोले भण्डारी भगवान शिवजी का अशीर्वादी प्रकाश मेरे अन्दर प्रवेश कर रहा है और मैं स्थायी शान्ति

जुलाई-दिसम्बर २०१६ ई०

(४१)

धर्मायण

महसूस कर रहा हूँ। उसके बाद वह दिव्य प्रकाशपुंज मैंने आजतक नहीं देखा।

उस दिव्य प्रकाश की शीतलता, वह गरिमामयी उपस्थिति को प्राप्त करने की बार-बार चेष्टा की, हर सम्भव पाने का प्रयास किया पर मुझे दुबारा नसीब नहीं हुआ। परन्तु यह भी सच है कि अरुणोदय बेला में की गयी ध्यान समाधि से जाग्रत अवस्था के कुछ पल ही सही स्वप्न-सा माहौल बना। डम-डम डमरू बजाते, थिरकते उमा सहित गौरीशंकर महोदय का साक्षात् दर्शन प्राप्त हुआ जिसे मैं अन्तरात्मा में देख सहन न कर सका। घबराकर आँखे खोल दी और नंगी आंखों से देखने का प्रयास किया। जो सूर्य की लालिमामयी आभा के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं दिया।

श्रीजगदम्बा गौरी सहित महादेव शिवजी का वह दुर्लभ सूक्ष्म दर्शन मुझे प्राप्त हुए।

**‘स्मृति पटल पर नयी पहिचान,
कभी प्रकट कभी अन्तर्धान।
मधुमय छवि अधर मुस्कान,
डम डम डमरू बाजा श्रीमान्।’**

का प्रतिबिम्ब मेरे मानस पटल पर छा गयी जो वास्तविक शान्ति तथा आनन्द की वर्षा हो रही थी। उस सूक्ष्म दर्शन से उनके आशीर्वाद से मेरे कितने जन्मों की थकान को दूर कर दिया। ऐसा अनुभवगम्य आध्यात्मिक तत्त्वों का आभास होते ही वीतराग गये।

अक्षरज्ञान और शिक्षा का संचार होते ही एक दिव्य शक्ति साकार हो गयी। श्रद्धा से जुड़ी यह शक्ति जहाँ तक प्रकाश दे सकती थी वहाँ तक मानव कल्याण की भावना स्वतः जागृत हो उठती थी। प्राणी मात्र एक आत्मा एक है, वह परमात्मा का अंश मात्र है, अतः किसी से ईर्ष्या द्वेष नहीं करना चाहिए। जिस समय स्वामीजी का जन्म हुआ, देश गुलाम था, बुद्धि के विकास ने आपको राष्ट्र की स्वाधीनता, गरीबी, अव्यवस्था तथा शोषण आदि का आभास कराया। आप व्यथित हो उठे। उनकी मानवीय भावनायें भी धार्मिक आधार लेती हुई

प्रवाहित होने लगी और परोक्ष रूप से स्वतंत्रता संग्राम में सहयोग पहुँचाये। आजादी के जंग में प्रख्यात सेनानियों, विद्वानों एवं मनीषियों के संगत के प्रभाव से भारत-भ्रमण का सुअवसर प्राप्त हुआ।

श्री श्री 108 श्री सकुलदासजी महाराज, गुरु रविदास धर्मपंचायती मन्दिर, अयोध्या के सान्निध्य पारसमणि का कार्य किया उनके बताये भक्तिमार्ग उनके बताये भक्तिमार्ग से साधना की तथा परमात्मा का साक्षात्कार किया। कई वर्षों पश्चात् गुरुदेव के चरणों की सेवा करते हुए देश के प्रमुख तीर्थों में अपने शरीर को बार-बार धोया और आप तपकर सुवर्ण-सा निखर गये। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उन्हें घर परिवार की परिधि बाँध नहीं सकी। ब्रह्मचर्य अवस्था, गृहस्थ अवस्था, वानप्रस्थ अवस्था को लॉघ सन्यास अवस्था में पहुँच गये और सारे संसार के नाता जोड़ लिया। उनका सुख-दुःख अपना नहीं सारे संसार के प्राणियों के सुख-दुःख से ओत-प्रोत हो जाते थे। वे किसी धर्म या मत का खण्डन नहीं करते थे। सभी का आदर करते हुए वैष्णव सम्प्रदाय प्रणेता आचार्य रामानन्द स्वामी जी, भक्ति आन्दोलन जेता स्वामी गुरु रविदास के आदर्श सत्पथ का अनुसरण करते हुए सनातन धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

अपने समय के संत श्री खेदन सिंह के साथ-साथ श्री श्री 108, श्री सद्गुरुजी महाराज, सिद्ध ज्ञानयोग पीठ गढ़वाघाट, वाराणसी से भी सम्मानित होते रहे। आपकी प्रतिभा को देखकर संतो, महन्तो, ज्ञानियों, तपस्वियों एवं प्रखण्ड विद्वानों ने सदैव आपका सम्मान के साथ आदर करते व सत्संग का आनन्द उठा भाव विहल हो जाते थे।

ऋषिकेश, हरिद्वार, मथुरा, वैष्णोदेवी, अयोध्या, प्रयाग, काशी, हरि-हर धाम, कलकता तथा गंगा सगर तीर्थादि प्राप्त आस्थावान पुण्य लाभ की आभा उनके मुखमण्डल पर सदैव थिरकती रहती थी।

अयोध्या धाम के गुरु रविदास धर्म पंचायती मन्दिर में रहते हुए हनुमानगढ़ी के नागा श्री श्री 108

जुलाई-दिसम्बर २०१६ ई०

(४२)

धर्मायण

श्री प्रताप बाबा से तीर्थोद्दि अन्य स्थलों में आध्यात्मिक सम्बन्ध बना और देखते ही देखते मित्र बन गये। भारत भ्रमण का लाभ उठाते हुए आपको नागा श्री प्रताप बाबा ने महाशिवरात्रि के शुभ अवसर पर गुप्त धाम कैमूर जिला में अपने यहाँ आने का निमन्त्रण दिया था। आपकी जिज्ञासा जगी और समय आने पर छोटे-बड़े सात पहाड़ियों को लॉघते, ऊँचाइयों पर चढ़ कठिनाईयों से खेलते उस दुर्गम स्थान पर पहुँच गये जहाँ भगवान शिव जी अपनी वाणी की मर्यादा की रक्षा करते हुए अपने ही एक दुष्ट शिष्य के डर से भागकर एक गुप्तस्थान के गुफा में जा छिपे थे। हजारों पर्वत शृंखलाओं के बीच जंगली हिंसक जानवरों से भरा-पटा उस दुर्गम स्थान के गुप्त गुफा मन्दिर के प्रबंधन सेवक श्री प्रताप बाबा थे। बेगवती धारा से प्रवाहित गंगा यमुना के समान दोनों संत देखते ही उत्साहित हो अपने विशाल व उदार हृदय से मिल, गुफा मन्दिर का दर्शन कर आपस में हजारों खुशियाँ बाँटे।

प्राकृतिक रमणीयता के बीच गुफा मन्दिर का प्रांगण अति मनोरम था। मौसमी प्राकृतिक झरनों, ऊँची-ऊँची चोटियों पहाड़ियों पर बेशकीमती जड़ी-बूटियों, औषधियों तथा लकड़ियों का अम्बार था। ऋषियों मुनियों तपसियों का सिद्धस्थली विचित्र आकर्षण का केन्द्र था। झाड़ियों लताओं एवं सघन वन से आच्छादित प्राकृतिक गुफा मन्दिर के प्रांगण में धूनी रमाये कुछ साधु-सन्तों के साथ प्रताप बाबा रहते थे। संकीर्ण गुफा मन्दिर के भीतर बहुत कठिनाइयाँ होती थी जिसे स्वामी शोभनाथ दास हंसजी कुछ संतों को साथ लेकर संकीर्ण स्थानों से चट्टाने तोड़-तोड़कर पत्थरों को हटाकर आने-जाने के लिए रास्ता सर्व सुलभ बनाया था। सहज, सरल, ईमानदार, कर्मठ तथा दृढ़प्रतिज्ञ साधक के रूप में स्वीकार कर प्रताप बाबा ने उन्हें गुफा मन्दिर की आरती करने की जिम्मेदारी दे रखी। निर्धारित समय में सुबह-शाम आरती कर आगन्तुक संतों, श्रद्धालुओं तथा बुद्धिजीवियों की सेवा करने में सफल रहें।

**दिनय भजन कीर्तन से, बहानुभूति होती।
दुःख दारिद्र मिटै सभी, सत्संगत की
ज्योति॥**

गुप्त गुफा मन्दिर में देवों के देव महादेव का पूजन-अर्चन व आरती पश्चात् एक संत ने मुझ पर दिव्य दृष्टि डालते हुए कहा- जो होना था वह होता ही है। ब्राह्ममुहूर्त में जल चढ़ाकर मुझे बहुत पहले ही तृप्त कर दिया था और आज भी तृप्त कर डाला। तुम अपना कार्य ठीक से करो, जो वास्तव में तुम्हें जीवन मिला है। अपनी स्मृति, परमात्मा की स्मृति को ध्यान में रखना व अपने कर्तव्य का पालन करना ही सबसे बड़ी पूजा है और किसी में मन न लगाकर परमात्मा में मन लगाना ही सबसे बड़ा कर्तव्य है। हे विलक्षण दार्शनिक प्रवचनकर्ता! तू सर्वत्र प्रतिष्ठा के पद पर पूज्यमान रहे। अनेको संत समूहों के बीच तुम्हारी दीप्त आभा उदीयमान रहा है। प्रकृति प्रदत्त आपका हृदय सद्गुणों से सदैव सम्पन्न रहे-

**श्रीगुप्तधाम पुजारी, गुरु शोभनाथ संत।
रामायण मुख भासते, सहजे पायो कंत॥**

विकारों से भरे मानव स्वभाव को प्रच्छालन करनेवाले, समदर्शी ईश्वरलीन गुरुजी के दर्शनमात्र से उनके प्रति सहज आकर्षण पैदा हो जाता था। शास्त्रसम्मत तथ्य पर आधारित तर्क बुद्धि से प्रस्फुटित होनेवाला ज्ञान का प्रवाह गंगा की पवित्र धार की तरह संत प्रवर स्वामी शोभनाथ दास हंसजी के मानस में प्रवाहित होता रहता था। गंगा में अवरिल गति से प्रवाहित होनेवाले अमृततत्त्व का रसास्वादन वही कर सकता है जो उनमें गोता लगाये। गंगा भी मनोभावना श्रद्धा और विश्वास के अनुकूल फलीभूत होती है। ठीक उसी प्रकार से इस दिव्य शक्ति की अलौकिक शक्ति का आनन्द भी वही ले सकता है जो उनके सानिध्य में रहकर उसमें डुबकी लगाये।

**सगुण की सेवा करऽ, निरगुण का कर ग्यान।
सगुण निगुण का परे, तहे हमारा ध्यान॥**

सगुण से ही निर्गुण को जाना, समझा जा सकता है। देव विग्रह देखना तो दूर स्मरण मात्र से

ब्रह्म का आभास हो जाता है। जिस प्रकार कागज के नोटों में शासनादेश का मूल्य निहित होता है, उसी प्रकार से वेदादेश से पाषाण आदि की प्रतिमाओं में ब्रह्म समाहित रहते हैं। जिस प्रकार निराकार बिजली पेड़ों पर गिर कर साकार अग्नि की ज्वाला बन जाती है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म देव-प्रतिमाओं एवं अवतारों में सम्पृक्त होकर साकार बन जाता है।

सवर्ण-अवर्ण, सछूत-अछूत, जाति-पाति का भेद रखनेवाला श्रद्धालु कभी भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं कर सकता और न वह संतों की सम्पदा-सनातन धर्म का। हम सभी तो एक पिता की संतान है। दलितों महादलितों अथवा अछूतों के तो मन में मन्दिर है, उनके दिल में भगवान है। श्रीमद्भागवत गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं घट-घट में निवास करता हूँ। अर्थात्

**‘ना मैं मन्दिर ना मैं मस्जिद ना काबे कैलास में।
मुझको कहाँ खोजो रे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।’**

अज्ञानता के बसीभूत होने के कारण सवर्णों ने भगवान को मन-मन्दिर से हटाकर ईट-पत्थर व कंकरीट से निर्मित मन्दिर में बैठा दिया है। उनमें से अधिकांश सामान्य सांसारिक लोगों ने उस देवतुल्य धर्मस्थल पर धर्म का व्यवसाय बना ब्रह्म को भूल चाम से अत्यधिक संबंध जोड़ लिया है। अधिकांशतः लोग सिर्फ चमड़े को पहचानते हैं और चमड़े से ढकी इस रूप की दुनियाँ में मंडराते-बिचरते हुए नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। वे लोग कभी भी इस चाम के महल में बैठ आनन्द कन्द श्रीराम को पहचानने की कोशिश नहीं किया। उनकी सारी क्रियायें चाम से ही मतलब रखती है अर्थात् वे राम तक पहुँचने की बात तक नहीं सोचते। इसलिए वे चर्मव्यवसायी नहीं तो और क्या कहा जाय। अतः उनमें से कुछ ऐसे लोग हैं कि अपने घर के मूर्दे को बाहर ले जाकर फूंक, दफना या दहवा आते हैं, तो कुछ लोग बाहर के मूर्दे मछली, बकरा, मुर्गी, कबूतर आदि घर में लाकर भूँज-भूँज कर चबा डालते हैं।

**हृद मे रहही आदमी, बेहद रहही साध।
हृद बेहद दोनो तजे, ओकर मती अगाध॥**

परमात्मा की सृष्टि में मनुष्य देह ही सर्वश्रेष्ठ है। संत वही जो काया को साधे, फकीर वही जो अपनी सारी इच्छाओं को खा जाये। संतों के हृदय में धर्म का बास है। उसके कर्म-धर्म की अखण्ड निधि है। साधु हरि का स्वरूप है।

प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद हमारे गुरुजी इस तामसीवृत्ति को जीवन के लिए नुकसान मानते थे। इसलिए वे खान-पान की वस्तुओं में सावधानी के लिए सचेष्ट करते हैं। खान-पान से ही मनुष्य के संस्कार बनते हैं। मद्य-मांस, अफीम, धूम्रपान का सेवन वर्जित है। भांग के सेवन से मनुष्य को एक कल्प, अफीम के सेवन से दस कल्प तथा मद्य सेवन करने से सहस्र कल्पों तक दुःख की प्राप्ति होती है। धूम्रपान करनेवाले के दुःख की कोई अवधि नहीं है। इसी प्रकार-

**तम्बाकूभङ्गमद्यानि ये पिबन्ति नराधमाः।
तेषां हि नरके वासो यावद् ब्रह्मा चतुर्मुखः॥**

जो अधम प्राणी तम्बाकू, भांग, मद्य आदि का सेवन करते हैं वे ब्रह्मा के काल पर्यन्त नरक में बास करते हैं। ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के लिये तो इन सबका सेवन पूर्ण रूपेण वर्जित है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्चापि सत्तमः।

श्वपचैः सदृशा ज्ञेयास्तम्बाकूपानमात्रतः॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र जो भी बीड़ी, सिगरेट सूती आदि के रूप में तम्बाकू का सेवन करते हैं उनकी बुद्धि चण्डाल के समान तामसी हो जाती है। विषय-सुख या सांसारिक सुख उस परामनन्द परम सुख की परछाई है। अतएव संसार से कभी सुख नहीं मिलेगा। शान्ति सुख और आनन्दरूपी हीरों का हार जिसे हम संसार में प्रतिबिम्ब की तरह पाने की कोशिश कर रहे हैं और निराश होते हैं- कीचड़ अर्थात् दुःख बार-बार हाथ लगता है। उस सुख-शान्ति-आनन्द का स्रोत है परमात्मा अर्थात् बिम्ब इसकी प्राप्ति है- प्रत्येक के जीवन का लक्ष्य।

**परनारी निज मातृ सम, पर धन धूरि समान।
सब प्राणी अपने सदृश, नही करो अपमान॥**

मनुष्य की जीवन यात्रा के चार पड़ाव है। पहला पड़ाव है धर्माचरण अर्थात् धर्म के अनुकूल जीवन का प्रारम्भ। दूसरा पड़ाव है- अर्थोपार्जन, अर्थात् धर्मपूर्वक आचरण करते हुए संसारिक संसाधनों का न्यायपूर्वक अर्जन, संचयन और संरक्षण। तीसरा पड़ाव है उपयोग, उपभोग अर्थात् धर्मानुकूल अर्थोपार्जन करते हुए संसारिक सुख-वैभव का मर्यादापूर्वक उपयोग-उपभोग और चौथा पड़ाव है- मोक्ष प्राप्त करना, अर्थात् धर्मानुकूल अर्थोपार्जन कर मर्यादित कामैषणाओं की पूर्ति करते हुए अन्तिम लक्ष्य-मोक्ष प्राप्त कर मानव-जीवन को सफल बनाना।

वे सच्चा वैष्णव उसी को मानते थे, जिनमें दया, क्षमा, अनूसया, शौच, मांगल्य, अपाकर्ण्य और स्पृहादि गुण निहित हो। मात्र तिलक, छाप, कण्ठीमाला और राम-नाम आदि के धारण करने से कोई वैष्णव नहीं बन जाता। वैष्णव भक्त अपना हृदय, मन, बुद्धि, शरीर, परिवार, धन, ऐश्वर्य, वासना तथा कामना आदि सब कुछ भगवान के चरणों में अर्पित कर निश्चित हो जाता है। वह सम्पूर्ण विश्व को अपने स्वामी में व्याप्त देखता है। सम्पूर्ण विश्व के जीवों के साथ प्रेम करता है।

परमात्मा ने मनुष्य शरीर इसलिये दिया है कि उससे मनुष्य अपना कल्याण साधन करें और यथा शक्ति दूसरों का उपकार करे। यदि तू प्रभु को प्रसन्न करना चाहते हो तो उनके प्यारे पुत्रों की सेवा करो। इससे वे शीघ्र प्रसन्न होकर, दर्शन देकर तुम्हे कृतार्थ करेंगे। किन्तु तुम घंटों पूजा करो, भगवान के नाम की रट लगाओ और उनकी संतान का तिरस्कार करो, तो लोग बाहर से भले ही तुम्हे महात्मा कहे, परन्तु तुम उस दयामय ईश्वर के कृपापात्र नहीं बन सकते।

**ग्रंथ पंथ सब जगत के, बात बतावत तीन।
राम हृदय मन में दया, तन में सेवा लीन॥
चींटी से हस्ती तलक, जितने लघु गुरु देह।**

सबको सुख देवो सदा, परम भक्ति है येह॥

परमार्थ एवं आध्यात्मिक सेवा में मगन रहते हुए आप कार्तिक मास में बलिया, पौष मास में कलकत्ता, आषाढ़ मास में कामाख्या, शिव रात्रि में गुप्तधाम या काठमाण्डू अगहन में सीतामढ़ी और अन्य तीर्थस्थलों में दीन-दुखियों एवं संतो की सेवा कर मानव-मर्यादा की रक्षा करते रहे। आपका जन्म बिहार प्रान्त सोन गंगा की उपत्यका पर अवस्थित कैमूर जिला, मोहिनयां प्रखण्ड के अन्तर्गत महरो ग्राम में दिनांक 07.08.1919 ई. को हुआ था। आपके माता का नाम सहोदरी तथा पिता का नाम शिवलखन पहलवान था। माता-पिता दोनों शिव के परम भक्त थे उनके पुण्यों के पुंज के प्रभाव से आपकी बचपन से ही विरासत के रूप में शिव-भक्ति का संस्कार मिला था। संघर्षमय जीवन व्यतित करते हुए बड़े उत्साह से उस भक्ति मार्ग पर चलकर गुप्त धाम में देवों के देव महादेवजी के सामीप्य का सुख भोगा।

परम पूज्य, ज्ञान स्वरूप, अगाध भगवद भक्ति, उत्कृष्टतम त्याग सतनाम 'राम' अनुराग आदि गुणों के आगार, आध्यात्म तत्त्ववेत्ता स्वामीजी की आत्मा दिनांक 31.12.2002, समय ब्राह्ममुहूर्त 04 बजकर 27 मिनट 57 सेकेंड दिन मंगलवार को ओंकारेश्वर शिवस्वरूप में विलीन हो गये। वे 83 वर्ष 4 माह 24 दिन के थे। संत शिरोमणि गुरु रविदास धर्म पंचायती मन्दिर अयोध्या से (1) तप्तशंखचक्रचिन्ह (2) उर्ध्वपुण्ड्र तिलक (3) भगवन्नाम (4) मन्त्रादि एवं (5) यज्ञादि-विरागी विरासत के रूप में मिला। ये पाँचो संस्कार स्वामीजी के व्यवहार में अपने आप में निहित था, परिपूर्ण था। अतः आपका अन्तिम संस्कार संतमत के अनुसार राजघाट वाराणसी, पवित्र पावनी, मोक्षदायिनी सुरसरी सरिता में जल समाधि दे किया गया। साधुशाही विधि से सहस्त्रों सिद्ध संतों द्वारा इनके कृतियों को याद कर प्रतिमा पूजन-अर्चन पश्चात सफल भण्डारा 12 जनवरी 2003 ई. को सम्पन्न हुआ।

**जिसने दुखाई आत्मा, वे डूबे मझधार।
माता पिता परमात्मा, मिले नहिं बारम्बार॥**



साधना

डॉ. गणेश शंकर पाण्डेय

(एम. ए. (द्वय), आचार्य, पीएचडी.)

अध्यापक, किसान +2 उच्च विद्यालय, घरहरा (नालंदा)

मनुष्य अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं को अपने बाह्य चक्षु से देखता रहता है, लेकिन कभी कभी वह उन वस्तुओं को उस नजर से देखता है, जैसे उसने कभी उसे देखा ही नहीं, आज जैसे उसपर उसकी पहली नजर पड़ी है, आज जैसे उसे अपने में सहेज लेना चाहता है। सचमुच आत्मा, जो हमेशा उसके साथ रहती है, हमेशा उसे उस अदृश्य सत्ता का आभास होता रहता है, उसे वह देखना चाहता है। परन्तु, काश! वह उसे देख नहीं पाता, समझ नहीं पाता। वस्तुतः उसे देखने समझने के लिए जिस अन्तश्चक्षु की आवश्यकता है, वही है साधना। साधना आत्मपरिचय का एक उत्कृष्ट मार्ग है, जिसके द्वारा साधक अपने भीतर के सत्य का जानता है, अपने सत्य को जानता है, अपने को पहचानता है। प्रस्तुत आलेख में आत्मतत्त्वदर्शी लेखक ने इसे भलीभाँति समझाने का उत्कृष्ट कार्य किया है।

“साधना” किसे कहते हैं? साधना का अर्थ है प्रयत्न करना, उद्योग करना, लगना। ‘साधन’ का अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसंधान के मार्ग में, अपनी आत्मा को परमात्मा में लीन कर “पूर्णमदः पूर्णमिदम्” की अनुभूति के पथ में हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं, उन सब का नाम ‘साधना’ है। नदी की धारा ऊँचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, वन-पर्वत को लाँघती हुई बढ़ती जाती है। क्यों, किसलिए? ‘इसलिए कि वह अन्त में अपने आपको समुद्र की गोद में सुला देती है, लीन कर देती है, मिटा देती है। उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा भी भाग्य के चढ़ाव-उतार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवन के विविध खट्टे-मीठे अनन्त महासागर में अपने आपको ढाल देने के लिए व्याकुल है, बेचैन है। नदी का लक्ष्य है समुद्र, मनुष्य का लक्ष्य है भगवान्। भगवान् के लिए जो भी अनुष्ठान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी ‘साधना’ है और जो कुछ भी इस मार्ग में अवरोधक है, साधन में विघ्न है।

‘साधना’ का श्रीगणेश

मनुष्य मात्र अपने भीतर एक निगूढ़, एक अव्यक्त अभाव का अनुभव करता है। वह ‘कुछ’

खोज रहा है, चाह रहा है, परन्तु वह ‘कुछ’ क्या है, उसे पता नहीं। वह ‘किसी’ को देखना चाहता है। परन्तु वह जानता नहीं कि वह कोई कौन है, कहाँ है, और कैसा है। संसार के इन बनने-मिटने वाले चित्रों से, क्षण-क्षण पर बदलनेवाली वस्तुओं से उसे स्थायी सुख, स्थायी शान्ति मिले तो कैसे? आज का विश्वासी मित्र कल का घोर शत्रु होता है, दगा दे जाता है। स्वजन-परिजनों से आज घड़ी दो घड़ी के लिए एक हल्की सुखानुभूति हुई, परन्तु कल ही उनका दुःख-दर्द देखकर रोना पड़ता है। मनुष्य आज धन-सम्पत्ति संग्रह करता है, परन्तु कल ही स्वयं बंधनों में बंधकर तड़पने लगता है, छटपटाने लगता है, उसके भार से पिसने लगता है। इन्द्रियों का सुख क्षणभर के लिए उसे सहला तो जाता है पर, फिर वह असंतोष और संतोष के अथाह सागर में अपने आप को पाता है। बुद्धि की दौड़-धूप और उछल-कूद से जीवन की घोर अशांति जाती नहीं, मन की शंका मिटती नहीं। अपने ही मन के रचे हुए जेल में मनुष्य अपने आप कैद है। वह प्रकाश के लिए तड़प रहा है, स्वतंत्रता के लिए बिलख रहा है। पिंजड़े को तोड़कर, जेल की दीवारें लाँघकर वह बाहर आना चाहता है। परन्तु जुगनुओं से कहीं रात का

अंधकार जाता है? संसार के सुख-भोग से कहीं अन्तर की प्यास मिटी है। हीरे-जवाहरात भी तो इस अंधकार को छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, फिर बुद्धि के उच्चतम विकास और विलास से मन का संशय कैसे मिटे? दुनिया भर में नाम और यश का विस्तार हो गया, परन्तु इससे उनको कौन सा संतोष मिला, कहाँ तृप्ति मिली? इन्द्रियाँ के सुख-भोग से क्षण भर की जो तृप्ति हुई, उसके पीछे मन सदा के लिए, चिरकाल के लिए चंचल और क्षुब्ध हो उठा। मन तो भावों का, बल खाते हुए भावों का एक सागर है, और जीवन है उस क्षुब्ध जल में उगमगाती हुई एक नन्हीं सी नाव। इसके सामने रहस्यों से भरा भविष्य, इसके पीछे लगा आ रहा है। भाग्य का मकर, किस्मत का घड़ियाल। सन्नाटा और तूफान, धूप और वर्षा, ओले और कुहरा मार्ग में आते हैं और नाव की गविविधि पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। प्रकृति की शक्तियों के सामने हमारी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। पग-पग पर वह हमें छकाती है, यथा, अब गया, तब गया, ऐसा लगने लगता है। एकाएक वह देखता है कि उसकी सत्ता कितनी बुरी तरह घिर गई है सर्वनाशी तूफान से, और तब वह अपने को पाता है, चारों ओर से असहाय, निराधार और निरवलम्ब। ऐसे ही समय उनके अन्तः स्थल से एक पुकार उठती है, एक हूक निकलती है-

हे प्रभो! हे मेरे स्वामी, मुझे बचाओं, मैं दीन-हीन हूँ, असहाय हूँ।

बुद्धिर्विकृण्ठता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।

नान्यत्किंचिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥

हे नाथ! मेरी मति कृण्ठित हो गई है, मेरे सारे तर्क- युक्तियाँ समाप्त हो गए हैं। मैं तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं जानता, बस, तुम ही एकमात्र मेरी शरण हो।

हे प्रभो! आज तुम्हारे सिवा मेरे लिए कोई सहारा नहीं है, तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, जीवन के आधार हो, प्राणों के अवलम्ब हो, मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो। तुमसे प्रेम करना ही प्रेम है, तुम्हें जानना ही

ज्ञान है। प्रभो! दया कर अपने प्रेम का दान दो, अपने प्यार से मुझे नहला दो, पवित्र कर दो, अपने ज्ञान का प्रकाश हो, जिससे मेरा अन्दर-बाहर ज्योतिर्मय हो जाए- शुभ ज्ञानमय हो जाए।

मनुष्य के हृदय से जब ऐसी करुण पुकार निकलती है, तब समझना चाहिए कि यथार्थ 'साधना' का श्रीगणेश हो रहा है।

'साधना' की आवश्यकता क्या है?

यह संसार त्रिगुणमयी माया का अनन्त क्रीड़ा-स्थल है। मनुष्य आँख-मिचौनी खेल रहा है। उसकी आँखों पर अज्ञानता की पट्टी बँधी हुई है। अहंकार के कारण वह दुःख के गर्त में जा पड़ा है। अगर वह निकलता भी है तो वह दुनिया भर की खाक-छानता फिरता है। वह दुःख-सुख, हर्ष-विषाद के थपेड़े खाता फिरता है। जहाँ जाता है, वहीं धक्के खाता है, दुरदुराया जाता है। कहीं भी शान्ति नहीं, सुख नहीं, स्वतंत्रता नहीं, संतोष नहीं। अपने ही आप अपनी इच्छा में आबद्ध है।

योगवसिष्ठकार ने लिखा भी है-

वासनातन्तुबद्धा ये आशापाशवशीकृताः।

वश्यतां यान्ति ते लोके रज्जुबद्धाः खगाः इव॥

यह आत्मा वासनाओं में जकड़ा हुआ है तथा अपनी ही इच्छाओं का गुलाम है। मनुष्य वासनाओं की रस्सियों में इस प्रकार जकड़ा हुआ है, जैसे रस्सी से बंधे हुए पक्षी।

मनुष्य वासनाओं की पकड़ में आने के बाद जितना भी सोचता-विचारता है, जितना भी हाथ-पैर मारता है, उतना ही दुःखों के जंजीरों से अधिकाधिक जकड़ा जाता है, उलझा जाता है। इतने ही में अन्तर की घण्टी बज उठती है और भगवान् का नाम अन्दर से गूँजने लगता है। मन कहने लगता है- श्री भगवान् ही विशुद्ध आनन्द हैं, वास्तविक ज्ञान है, सत्य है तथा सर्वसमर्थ प्रेम है। इनके चरणों के एकबार भी स्पर्शमात्र से आँख की पट्टी खुल जाती है, जीवन उन्मुक्त हो जाता है, सत्य उतर जाता है और हृदय के अन्तःस्थल में आनन्द की लहरें उठने

लगती है। नाम का अनुसरण और भगवान् के चरणों का स्मरण 'साधना' की पहली सीढ़ी है। भगवान् के परम-पावन चरण-युगल ही हमारे सच्चे आश्रय हैं। एकमात्र शरण्य हैं और सभी आधार व्यर्थ हैं। धोखे में डालनेवाले हैं, भरमाने वाले हैं। भगवान् की प्राप्ति की ही सच्ची प्राप्ति है। उसके बिना सारी प्राप्ति व्यर्थ है। भगवत् चेतना के बिना जीवन दारुण आत्महत्या है, भयानक आत्महनन है। आज की दुनिया में, जहाँ विज्ञान के नये-नये अनुसंधानों में मनुष्य का अहंकार इतरा उठा है, जहाँ भोगमय साम्राज्यवाद की दानवी ज्वाला से मानवता पीड़ित एवं क्षुब्ध है।

“सर्वत्र इसी आत्महनन का दौर है। इससे रक्षा केवल 'साधना' ही करा सकती है। इसलिए 'साधना' की परम आवश्यकता है। उसी 'साधना' से अपने सत्य स्वरूप का, जो स्वयं श्रीनारायण हैं- पता लगेगा। यह 'साधना' जीवन हेतु नितान्त आवश्यक है, अनिवार्य है। जीवन में अन्न, जल, वायु, प्रकाश की अपेक्षा भी इस 'साधना' की आवश्यकता सर्वाधिक है, क्योंकि साधना संलग्न व्यक्ति अन्न, जल, वायु, प्रकाश के बिना भी स्वस्थ एवं जीवित रहता है।

प्रेरक प्रसंग

रास्ता कहीं नहीं जाता; यात्री जाते हैं

एक बार राजा भोज और कविवर माघ संध्या-समय भेष बदलकर घूमने निकले। लौटते समय एक स्थान पर उन्हें दो रास्ते दिखाई दिये और वे सही रास्ता न जानकर पेसोपेश में पड़ गये। समीप ही एक कुटिया थी। कुटिया के सामने एक बुढ़िया खड़ी थी। राजा भोज और कविवर माघ उसके पास गये। राजा भोज ने उससे पूछा, 'बूढ़ी माता, यह रास्ता कहाँ जाती है?'

बुढ़िया ने उन दोनों की ओर गौर से देखा और फिर जवाब दिया, 'यह रास्ता तो कहीं नहीं जाती है; हाँ, इस रास्ते से यात्री अवश्य जाते हैं। आप लोग कौन हैं?'

'हम यात्री ही हैं।' - राजा भोज ने जवाब दिया।

'मगर यात्री तो केवल दो ही हैं - एक सूरज तथा दूसरा चन्द्रमा। इनमें से आप कौन हैं?'

'जी, हम अतिथि हैं।' - राजा ने पुनः जवाब दिया।

'अतिथि भी दो ही होते हैं- एक धन और दूसरा यौवन। आप कौन हैं?' - बुढ़िया ने पुनः प्रश्न किया।

राजा भोज ने कहा- 'हम राजा हैं।'

बुढ़िया ने कहा- 'राजा भी दो हैं- इन्द्र तथा यम।' 'हम क्षमावंत हैं।' - राजा भोज ने कहा।

बुढ़िया ने पुनः कहा- 'क्षमावंत भी दो हैं- पृथ्वी और नारी। मेरा ख्याल है, आप लोग इनमें से कोई भी नहीं हैं।'

'हम परदेशी हैं।' - राजा भोज ने कहा। 'परदेशी भी दो हैं- जीव एवं वृक्षपर्ण।' - बुढ़िया ने कहा।

राजा - 'हम गरीब हैं।' बुढ़िया- 'गरीब भी दो ही होते हैं - बकरी और लड़की।'

अब तो वे तंग आ गये। आखिर राजा बोले, 'बुढ़िया, हम हार गये।'

'हारनेवाले भी दो ही होते हैं - एक कर्जदार तथा दूसरा वधु-पिता।'

बुढ़िया ने देखा कि वे दोनों काफी खीझ-से गये हैं। वह बोली, 'मैं बताती हूँ आप लोग कौन हैं, आप हैं राजा भोज तथा आपके साथी हैं माघ कवि। आप सामने के रास्ते से उज्जैन की ओर जा सकते हैं।'

संकलन : मगन देव नारायण सिंह

कृषि विज्ञान में ज्योतिषशास्त्र की भूमिका

ज्योतिषाचार्य डॉ. राजनाथ झा

गणित-फलित ज्योतिषाचार्य,

विद्यावरिधि (पीएच. डी.)



ग्रहों और नक्षत्रों की गति के आधार पर भविष्य की गणना कर हमारे प्राचीन ज्योतिर्विदों ने सदा से मानव की सेवा की है। वे न केवल आनेवाले प्राकृतिक आपदाओं की सूचना देते रहे हैं, बल्कि आगे के दिनों में वर्षा की स्थिति की भी संभावना व्यक्त करते रहे हैं ताकि किसान उसके आधार पर शस्य का चुनाव कर खेती कर सकें। वराहमिहिर ने 'मयूरचित्रक' नामक ग्रन्थ में इसका विशद विवेचन किया है। न केव संस्कृत की परम्परा में अपितु लोकभाषाओं की परम्परा में भी अनेक कहावतें परम्परा से प्राप्त हैं, जो किसानों के कण्ठहार बने हुए हैं तथा उन नियमों का पालन कर विगत वर्षों तक किसान अधिक से अधिक शस्य उपजाते रहे हैं। खासकर 19वीं शती मे हमारे किसान प्राकृतिक विधि से ज्योतिषीय वचनों के आलोक में अपेक्षाकृत अधिक फसल उगाते रहे हैं। भाषा के विकास की दृष्टि से भी ये लोकवचन महत्त्वपूर्ण हैं। इनके उद्धरण हमें यत्र-तत्र संस्कृत के ग्रन्थों की प्राचीन पाण्डुलिपियों में भी अपने प्राचीन रूप में मिलते हैं।

यहाँ मयूरचित्रक ग्रन्थ पर पीएच.डी. की उपाधि से विभूषित आचार्य राजनाथ झा द्वारा प्रस्तुत यह आलेख पठनीय एवं मननीय है।

प्राचीन भारतीय ज्योतिर्विदों ने यज्ञ प्रारम्भ करने के लिए शुभकाल की गणना हेतु ग्रहों, नक्षत्रों एवं उनकी गतियों का दृक्कर्म द्वारा अध्ययन किया और उन्होंने पृथ्वी के सजीव और निर्जीव पदार्थों पर ग्रहों की अवस्थिति का प्रभाव सूक्ष्म रूप से देखा। फलतः गणना के साथ-साथ फलित ज्योतिष का प्रादुर्भाव हुआ।

ज्योतिर्विदों ने व्यापक रूप से ग्रहों की अवस्थिति से उत्पन्न प्रभाव का मानव जीवन के ऊपर होनेवाले परिणाम का अध्ययन किया और जातक-स्कन्ध में मनुष्य के जन्मकाल में ग्रहस्थिति के आधार पर सम्पूर्ण जीवन का फलादेश प्रस्तुत किया। किन्तु ग्रहों की स्थिति के कारण प्राकृतिक परिवर्तनों और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप वनस्पति जगत् पर पड़नेवाले प्रभावों का आकलन भी उनसे अछूता न रहा। इस प्रकार आनुषंगिक रूप में ही सही, प्राचीन ज्योतिर्विदों ने कृषि-विज्ञान पर ऐसे तथ्य उपस्थापित किया हैं, जो आज भी भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए उपयोगी है।

ज्योतिष शास्त्र में भी सूर्य, चन्द्रमा, मंगल को वनस्पतियों का कारक ग्रह माना गया है। वैदिक-साहित्य का उद्घोष है- 'अन्नाद् भवति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।' फलतः अन्न के उत्पादन में वर्षा का महत्त्व सबसे अधिक रहा है। ज्योतिषशास्त्र की परम्परा में वर्षा होने की भविष्यवाणी करने के लिए कई गणनाएँ हैं।

'मकरन्द-प्रकाश' में सत्ताइस नक्षत्रों में मूल से लेकर आर्द्रा तक पुरुष-संज्ञक माना है। विशाखा, अनुराधा एवं ज्येष्ठा नपुंसक-संज्ञक हैं। शेष नक्षत्र स्त्री-संज्ञक हैं। जिस दिन सूर्य नक्षत्र-संचार करे उसे दिन के दैनिक नक्षत्र का जो लिंग हो और रवि-संचार का नक्षत्र जिस लिंग का हो, इन दोनों के योग के आधार पर उस दिन वृष्टि की भविष्यवाणी की गयी है। इनमें पुं-स्त्री एवं स्त्री-स्त्री योगों में पूर्णवृष्टि, स्त्री-नपुंसक योगों में खण्डवृष्टि तथा नपुंसक-नपुंसक योग एवं पुं-पुं योग में अनावृष्टि होती है।

वराहमिहिर ने बृहत्-सहिता के इकीसवें अध्याय में कहा है-

अन्नं जगतः प्राणाः प्रावृट्कालस्य चान्नमायतम्।
यस्मादतः परीक्ष्यः प्रावृट्कालः प्रयत्नेन॥

इसी अध्याय में उन्होंने वृष्टि-गर्भ, सम्भव, गर्भनाश आदि का वर्णन किया है। आगे चार अध्यायों में वराहमिहिर गर्भधारण, प्रवर्षण, रोहिणीयोग एवं स्वातीयोग का वर्णन कर वृष्टि सम्बन्धि पूर्वानुमान उपस्थापित करते हैं। वृष्टिविज्ञान में एक विशेष दिन में ग्रह-संचार एवं उस दिन दृग्गोचर निमित्त के आधार पर भी वर्षा का पूर्वानुमान ज्योतिर्विदों द्वारा वर्णित है।

वराहमिहिर से पूर्व भी बौद्ध ज्योतिर्विदों ने इस विषय पर पर्याप्त सामग्री दी है। बोधिसत्त्वावदान ग्रन्थों में शार्दूलकर्णावदान में इसकी पर्याप्त विवेचना है।

अभिजिति ग्रीष्माणां पश्चिमे मासे यद्यत्र देवः प्रवर्षति, चतुःषष्ट्यादृकानि प्रवर्षति। मण्डलवर्षं च देवः प्रवर्षति। पश्चाद् वर्षः सस्यं जयनति।

यह शार्दूलकर्णावदानम् ईशा की दूसरी शती में तिब्बती भाषा में अनूदित हो चुका था, अतः इसकी गणना का काल दूसरी शताब्दी से भी पहले सिद्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध-परम्परा में महाज्ञानी सिद्धों ने भी इस विषय पर अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, यह परम्परा जनभाषा के माध्यम से अधिक लोकप्रिय रही है। बौद्धगान और दोहा में भी वृष्टिविचार के उद्धरण उपलब्ध होते हैं। 'छपणक जातक' की पंक्ति महामहोपाध्याय चण्डेश्वर ने कृत्यचिन्तामणि में इस प्रकार उद्धृत किया है-

आस्सिन रवि सोमह चित्ती पूर्वाषाढ महीसुआ युती होइ जइछज सरणा मंगो सवाती होइ वेहप्पई अंगी।

इस प्रकार लोक भाषा के माध्यम से वृष्टि-विचार की एक धारा प्रवाहित हुई जिसमें डाक, घाघ, भडली आदि ज्योतिर्विदों के नाम प्रमुख हैं। राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल इन चार

प्रान्तों में डाक, घाघ, भडली आदि का स्थान माना जाता रहा है।

मिथिला के प्रसिद्ध कवि विद्यापति के पुत्र म. म. हरपति ने अपने ग्रन्थ 'व्यवहारप्रदीप' में 'डाक' के इस वचन को उद्धृत किया है-

मेष-मीन तिअ दण्डा दीअ,
ता उप्परि दिअ पल अठतीअ।
वृष-कुम्भ चौदण्डा मान,
पल एगारह भुगुतिअ मान॥
मिथुन मकर पल तीनि गुनू
कर्कट तेतालीस धनू।
सिंहहि वृश्चिक सप्ततलीस
तुल सह कन्या पल अठतीस
मिथुना सत्रो मोत्रे सब पल कहिये
पाँच दण्डे सबे पल लहिया।

जनभाषा में लिखित इस वचन में ज्योतिष शास्त्र के अनुसार एक दिन में प्रत्येक राशि में सूर्य के गमनकाल की गणना मिथिला के अक्षांश-देशान्तर के सन्दर्भ में छह अंगुल पलभा के आधार पर दिया गया है। इस प्रकार 15वीं शती से पूर्व मिथिला में डाक नामक एक ज्योतिषी हुए थे, यह सिद्ध होता है। इस 'डाक' के अनेक वचन लिखित और अलिखित परम्परा में उपलब्ध हैं, जिनमें 'कहथि गोआर', 'कहि गेल डाक गोआर', 'कहिअ गोआरे' आदि भनिताएं हैं। इससे वे 'गोआर' ग्वाला जाति के सिद्ध होते हैं। इनके वचनों को समग्र समाज में सदियों से मान्यता मिली है तथा म.म. हरपति, म.म. शुभंकर ठाकुर, म.म. पशुपति आदि व्यवहार-शास्त्र के निबन्धकारों ने इन्हें प्रमाण के रूप में संस्कृत-ग्रन्थों में सादर उद्धृत किया है।

शास्त्रीय रूप से छह पलभा मिथिला की मानी गयी है, बनारस में 5 अंगुल 45 प्रत्यंगुल है, बंगाल में 6 अंगुल 15 प्रत्यंगुल हैं।

ज्योतिर्विद् डाक ने वर्षा के पूर्वानुमान पर पर्याप्त विचार प्रस्तुत किया है-

मेघगर्भ पर विचार प्रस्तुत करते हुए डाक ने कहा है कि पौष कृष्ण एवं माघ शुक्ल में जितने दिनों तक मेघ दिखेगा, श्रावण महीने में उतने दिनों तक वर्षा होगी। माघ कृष्ण में मेघ लगे तो भाद्र शुक्ल में वर्षा का योग होगा। आगे डाक ने दशतारक का विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है-

मूल आदि भरणी केर अन्त
चन्द्र बार तेइं गर्भ कहन्त।
कारी घटा गगन में छाबए
बहए पवन जो वृष्टि नहिं लाबए॥
ओ दसतारक नीक कहाबए
वर्षा कए के अन्न बढ़ावबा
जो दसतारक वर्षा हो पुहुमी
घुरि लोटाबए सोअ॥

ज्योतिर्विद् डाक ने वर्षा विचार के अतिरिक्त अन्य तथ्यों पर भी सामग्री प्रस्तुत की है जैसे धान के बीज वपन के लिए उन्होंने कहा है-

कृषि कार्य बोआर मानब,
चारि काज अठदीस वर्षा नब।
पूर्वें नर्चें अनाइबि कोणे,
दक्खिन किंचित नैर्हंत सोने॥
पच्छिम लाभ कोण पतंग,
उत्तर देय बहुत सुखरंग।
ईशान कोण दैवत्ते जाए,
सगुनक देल सबे केओ खाए॥
शुक्कह वान शनीश्चर अरु षोड़,
मंगलबार बिआ हो थोड़॥
रवि अनाइबि सोम षट्दहा,
बुध बृहप्फए बाउग कहाँ॥
बाउग रोपन जोतन हरठाठ?

इसके अतिरिक्त डाक ने हलचक्र, बीच-बन्धन विचार अर्थात् अगले वर्ष के लिए बीच में रूप में अन्न को सुरक्षित करने के लिए काल-निर्देश किया है।

कटुक धन कि अस्मनि श्रवणे,
अद्दा रेवए मृगकर मूले।
मघा सवाती न कर विचार

राउत सुरगुरु शुक्कहवार॥

कृषि विज्ञान में बैल का महत्व है। बैल खरीदने के लिए शुभ दिन, उनके लक्षण, उनकी चेष्टा आदि विषयों पर भी विचार किये गये हैं। इस प्रसंग में हल चक्रपर्याप्त प्रसिद्ध है। कहते हैं-

जाहि नखता रविकर वासा
ता सँ तीन दिओ हरनासा॥
वृषभ विनाश उपजय नहि
धान पटायब की आनद किसानां

अर्थात् सूर्य हों, उनके आगे तीन नक्षत्रों में यदि चन्द्रमा हों तो खेत जोतना आम्भ नहीं करना चाहिए। यहाँ स्पष्टतः सूर्य और चन्द्रमाँ की अवस्थिति का कृषि पर प्रभाव प्रतिपादित है।

इसी प्रकार धान का विचड़ा खेत में रोपने के लिए पुष्य या पुनर्वसु नक्षत्र को श्रेष्ठ माना गया है। तथा खेत की तैयारी के लिए मघा एवं अश्लेषा नक्षत्र को श्रेष्ठ माना गया है।

पुष्य पुनर्वसु पेलिबह
धान मह असरेषा कादो सान॥

डाक ने अन्न के अतिरिक्त फलदार वृक्षों के लिए भी विवेचना प्रस्तुत की है। फाल्गुन मास में केला, चैत्र मास में आम वृक्ष लगाने के लिए कहा गया है। केला के लिए डाक गणना करते हैं-

भदवा भादव सिमी बैर।
केरा रोपी चारि विचारी।

अर्थात् भाद्र मास, पंचक 'शी', और 'मी' से अन्त होनेवाली तिथियाँ, जैसे पंचमी, सप्तमी, अष्टमी, दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, एवं चतुर्दशी को छोड़कर अन्य समय में केला लगाना चाहिए।

डाक के ये वचन आज तक शताब्दियों से किसानों के मार्ग दर्शन करते रहे हैं। कृषि-विचार में संस्कृत ग्रंथों की धारा की अपेक्षा यह धारा अधिक लोकप्रिय और कारगर रही है। दूसरी धारा संस्कृत भाषा में निबद्ध रही है। मनु, वाल्मीकि, सिद्धिसेन, गर्ग, पराशर, काश्यप, वज्र आदि अपने पूर्वाचार्यों को उद्धृत करते हुए वराहमिहिर ने बृहत् संहिता में इसकी

पूर्ण विवेचना की है, और बाद में वल्लाल सेन ने अद्भुत सागर में महामहोपाध्याय चण्डेश्वर ने कृत्यचिन्तामणि में इस परम्परा को पुष्ट किया है। इसी परम्परा में बीसवीं शताब्दी के विद्वान पंडित मधुसूदन ओझा मैथिल का ग्रंथ कादम्बिनी महत्त्वपूर्ण है, जिसमें वर्षा प्रकरण पर विराट् विवेचन किया है।

यह सम्पूर्ण ग्रंथ वृष्टि-विचार पर केन्द्रित है। इसमें मेघगर्भ, गर्भनाश आदि विषयों से लेकर इसके अनेक चक्रों का विवेचन है। षट्चक्रों का निरूपण करते हुए उन्होंने कहा है-

समुद्रस्तुम्बुरुः कालः पातसंघट्टनाडिकाः।

षट्चक्रवेधाः उच्यन्ते द्रष्टुं वृष्टिं च वेधजाम्॥

वेधज-वृष्टि जानने के लिए समुद्र, तुम्बुरु, काल, पात, संघट्ट और नाड़ी ये छह चक्रवेध गये हैं, जिनमें समुद्र प्रधान हैं। इस समुद्र-चक्र में वैज्ञानिक विचार भी किया गया है।

इस प्रकार ज्योतिषशास्त्र में वनस्पति विज्ञान पर दो धाराएँ रही हैं, जिनके समन्वय पर विस्तृत

शोध की अपेक्षा है, ज्योतिर्विज्ञान का यह विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और कृषि प्रधान देश भारत में भी गहन शोध अपेक्षित है।

ज्योतिषशास्त्र में इसके अतिरिक्त हलप्रवण, बीजवपन, धान्यरोपण, धान्यच्छेदन, खलिस्थापन, मेधिरोपण कणमर्दन, धान्यस्थापन, धान्यवृद्धि, बीज-स्थापन, नवान्न-पार्वण आदि कृषि-सम्बन्धी कार्यों के लिए शुभ और अशुभ मुहूर्तों एवं योगों का विवेचन ज्योतिषशास्त्र में किया गया है। अतीत में इन मुहूर्तों के आधार पर कृषि-कार्य करने की परम्परा रही है। आधुनिक संदर्भ में इसकी वैज्ञानिक व्याख्या अपेक्षित है; क्योंकि इस परम्परा से भारत के किसान लाभान्वित होते आ रहे हैं।

गणित, फलित-ज्योतिषाचार्य
ज्योतिष मण्डप, महावीर मन्दिर, पटना-1

मो० : 9835258203



जय गंगे!

मिथिला के ओइनवारवंशीय राजा पद्मसिंह (15वीं शती) की पत्नी विश्वास देवी के ग्रन्थ 'गंगावाक्यावली' का संशोधन महाकवि विद्यापति ने किया है, जैसा कि इसके अंतिम श्लोक में स्पष्ट किया गया है। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में विश्वास देवी ने गंगा का स्मरण, कीर्तन, यात्रा, श्रवण, शरणागति, दर्शन, नमस्कार, स्पर्श, तट-श्राद्ध, गंगाक्षेत्र माहात्म्य, गंगा में पैठना, गंगा-स्नान, गंगाजल से आचमन आदि सभी कर्मों की विस्तृत व्याख्या कर स्मृति एवं पुराणों से उनके अशेष फल का विवेचन किया है। उन्होंने आगे गंगा-स्मरण का माहात्म्य इन शब्दों में लिखा है:

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् जाग्रद् ध्यायन् भुञ्जन् श्वसन् वदन्।

यः स्मरेत् सततं गंगां सोऽपि मुच्येत बन्धनात्।

अर्थात् चलते, बैठते, सोते, जागते, ध्यान करते, खाते, साँस लेते और बोलते हुए जो हमेशा गंगा का स्मरण करे वह भी बंधनों से मुक्त हो जाये। गंगा शब्द का उच्चारण भी परम पुण्य का कार्य है:

दर्शनात् स्पर्शनात् पानात् तथा गंगेति कीर्तनात्।

स्मरणादेव गङ्गायाः सद्यः पापात् प्रमुच्यते।

दर्शन करने से, गंगाजल का स्पर्श करने से, पीने से और गंगा-गंगा कीर्तन करने से या केवल स्मरण करने से ही तुरत वह व्यक्ति पाप से मुक्त हो जाता है।

पञ्चगव्य बनाने की शास्त्रीय विधि

पञ्चगव्य गोमाता से प्राप्त पाँच वस्तुओं का एक आनुपातिक सम्मिश्रण है, जिससे शुद्धीकरण किया जाता है। न केवल सनातन धर्म में, अपितु बौद्ध महायान में भी पञ्चगव्य का प्रयोग, प्रायश्चित्त प्रकरण, शोधन एवं देवस्नपन में भी किया जाता है। शिवगीता में वर्णन है कि शिव का स्नपन भी पञ्चगव्य से होता है।

पञ्चामृतैः स्नापयेद्यः

पञ्चगव्येन वा पुनः।

पुष्पोदकैः कुशजलै-

स्तस्मान्नान्यः प्रियो मम ॥

(शिवगीता, अध्याय 15, 35)

अर्थात् पञ्चामृत, पञ्चगव्य, फूल के जल से और कुश के जल से जो मेरा अभिषेक करता है, उससे अधिक प्रिय मेरा कोई नहीं है।

आधुनिक काल में पञ्चगव्य का प्रयोग औषधि के रूप में होने लगा है। अनेक संगठन दावा करते हैं कि पञ्चगव्य के प्रयोग से विभिन्न प्रकार के रोग छूट जाते हैं। वैदिक काल में पञ्चगव्य के निर्माण की विधि पर प्रकाश डालना यहाँ अभीष्ट है। इस विधि का प्रयोग परम्परागत रूप से वैदिक लोग आज भी पूजा-पाठ, यज्ञ आदि में शोधन के लिए प्रयोग करते हैं।

पराशर के अनुसार कपिला रंग की गाय से गोमूत्र लेना चाहिए। उजले रंग की गाय से गोबर, ताँबे के समान रंग की गाय से दूध तथा लाल रंग की गाय के दूध से जमाया गया दही लेना चाहिए। कपिला रंग की गाय के दूध से बना घृत लेना चाहिए अथवा कपिला गाय से सभी वस्तुएँ लेनी चाहिए।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।

निर्दिष्टं पञ्चगव्यं तु पवित्रं पापशोधनम् ॥

गोमूत्रं कृष्णवर्णायाः श्वेतायाश्चैव गोमयम्।

पयश्च ताम्रवर्णाया रक्ताया गृह्यते दधि ॥

कपिलाया घृतं ग्राह्यं सर्वं कापिलमेव वा ।

इसके बाद पञ्चगव्य में किस वस्तु की क्या मात्रा होनी चाहिए, इसका भी निर्धारण किया गया है।



इसके अनुसार गोमूत्र -1 पल देना चाहिए। इसमें आधा अंगूठा गोबर मिलाना चाहिए। आधा अंगूठा कहने का अर्थ है कि गोबर में आधा अंगूठा धँसाने के बाद तर्जनी से पकड़कर जितना गोबर आता हो। दूध 7 पल मिलाना चाहिए तथा 3 पल दही मिलाना चाहिए। सबसे अन्त में 1 पल घी देना चाहिए और 1 पल कुशोदक देना चाहिए। यहाँ पल शब्द मात्रावाचक है। शास्त्रीय प्रमाण के अनुसार 4 सुवर्ण एक पल कहलाता है। आधुनिक ग्राम की प्रणाली में 11.56 ग्राम एक सुवर्ण होता है, अतः 4 सुवर्ण लगभग 45 ग्राम का एक पल कहलाता है।

मूत्रं एकपलं दद्यादङ्गुष्ठार्धं तु गोमयम् ।।

क्षीरं सप्तपलं दद्याद्दधि त्रिपलमुच्यते ।

घृतमेकपलं दद्यात्पलमेकं कुशोदकम् ।।

इसके बाद विवेचन किया गया है कि किस मन्त्र से कौन-सी वस्तु मिलानी चाहिए। परम्परागत विधि है कि मिट्टी के वर्तन में निम्न प्रकार से मन्त्र पढ़कर वस्तुएँ मिलावें। इसके लिए पराशर-स्मृति का वचन इस प्रकार है-

गायत्र्यादाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।

आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णस्तथा दधि ।।

तेजोऽसि शुक्रमित्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।

पञ्चगव्यं ऋचा पूतं स्थापयेदग्निसनिधौ ।।

(पराशरस्मृति. अध्याय 11. 28 - 33)

गोमूत्र- गायत्री मन्त्र से।

गोबर- ॐ गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् । ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपहृये श्रियम् ।।

दूध- ॐ आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्यं भवा व्वाजस्य सङ्गये ।।

घृत- ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि धामनामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ।

दधि- ॐ दधि क्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभिनो मुखाकरत्प्रण आयूषि तारिषत् ।

कुश का जल- ॐ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेशिनोर्बाहुभ्यां पूष्णोर्हस्ताभ्याम् ।

गोबर मिलाने के लिए दूसरा मन्त्र भी परम्परा से प्राप्त है-

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।

मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वा हवामहे ।

इसके बाद एक परम्परा के अनुसार त्रिकुशा से उसे मिलावें तथा दूसरी परम्परा के अनुसार काष्ठ से मिलावें। मिलाते समय काष्ठ अथवा त्रिकुश को दक्षिणावर्त दिशा में चलावें। मिलाते समय यह मन्त्र पढ़ना चाहिए- ॐ आलोडयामि ।

पञ्चगव्य पीने का मन्त्र-

ॐ यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति मामके (तावके) ।

प्राशनात् पञ्चगव्यस्य दहत्यग्निरिवेन्धनम् ।।



बोधकथा

ईश्वरानुभूति

तेरी स्मृति के आघातों से, छाती छिलती रहे सदा।

चाहे तू न मिले, पर तेरी, आहट मिलती रहे सदा।

कुछ लोग कहते, हैं ईश्वर है, कुछ लोग कहते हैं, ईश्वर नहीं है। इन्हीं बातों के उलझन में पड़ा मनुष्य उम्र-दर-उम्र गुजारता आखिरी साँस तक पहुँच जाता है और तब उसकी साँस भी उसे दगा दे जाती है। जबतक रगों में बल था, साँसों में गर्मी थी, और मन में जुनून था, उसने कुछ धार्मिक कृत्य (यथा-शास्त्रों का अध्ययन, तीर्थाटन वगैरह) कर अपने को धन्य माना। इससे उसे क्या मिला, कहा नहीं जा सकता! पर हाँ, उसे कुछ मिला होगा अवश्य, यह मैं भी मानता। सत्कर्मों में प्रवृत्ति और दुश्कर्मों में निवृत्ति की सोंच पैदा होना, सचमुच एक बड़ी बात है। पर, यह विना तीर्थाटन, शास्त्राध्ययन के भी तो संभव है। रावण, विद्वान् होता हुआ भी दुराचारी था; जटायु, गृद्ध होता हुआ भी सदाचारी था। मैं इन कर्मों (तीर्थाटन, शास्त्राध्ययनादि) की निन्दा नहीं कर रहा, क्योंकि यह भी ईश्वर आराधन का एक तरीका है। पर, जब हम किसी पशोपेश में पड़ते हैं तब आँखें उठाकर ऋषि-वचनों, पुराण-पुरुषों की ओर देखते हैं। यहाँ मैं ऐसा इसलिए कह रहा, क्योंकि निम्न श्लोक मुझे बार-बार सोचने को विवश करता है-

प्रथमा सहजावृत्तिः द्वितीया ध्यान धारणा।

तृतीया शास्त्राध्ययनं तीर्थाटनमधमाधमा।।

ईश्वर आराधन का प्रथम और सबसे उत्तम तरीका सहजावृत्ति है, जिसमें कुछ अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है, केवल हृदय में अपार भक्ति चाहिए। यह वृत्ति बताती है कि जब अन्तर्मन में भगवान् का नाम स्वतः गूँजता रहे तब इससे अच्छी कोई दूसरी भक्ति हो ही नहीं सकती। दूसरा तरीका ध्यान-धारणा है, जिसमें आसन लगा आँख मूँदिए और एकाग्र हो ध्यान मग्न हो जाइए। तीसरा तरीका, धर्मशास्त्रों (वेद, पुराण, उपनिषद् रामायण, महाभारत आदि) का अध्ययन है। तथा चौथा तरीका तीर्थाटन आदि है। पर, तीर्थाटन को अधमों में अधम माना गया है। खैर, इन तरीकों के विषय में मुझे कुछ कहना नहीं। मैं एक छोटी-सी बात कहना चाहता हूँ, जो विवाद से परे है, और सच्चाई की शत-प्रतिशत गारंटी है।

मैं जब छोटा था, न जाने कहाँ से 'राम' का नाम जपने का संस्कार पैदा हो गया। लोग कहते हैं कि संस्कार घर में मिलता है। पर, इसे मैं उतना सही नहीं मानता जितना दार्शनिकों ने हो-हल्ला कर रखा है। हाँ, अंशतः सही हो सकता, इसमें कोई संदेह नहीं। मैं देख रहा हूँ, मैं जाति का ब्राह्मण हूँ, पर मेरा सारा परिवार जातीय-धर्म से बहुत दूर है। संध्या-वन्दन, कीर्तन-भजन मैंने घर में कभी देखा ही नहीं। हाँ, माँ कभी-कभार पूजा-पाठ, व्रत-उपवास कर लिया करती थी। पिताजी संस्कृत के अध्यापक अवश्य थे, पर यजन-याजन, पूजाराधन की ओर उन्हें कभी उन्मुख नहीं पाया। खैर, यह उनकी निजी बात है। मुझे इसपर टीका-टिप्पणी का कोई अधिकार नहीं।

मुझे याद है, मैं अकेले रहूँ या साथियों के साथ कहीं आता-जाता रहूँ, हमेशा राम का नाम मन-ही-मन लेता रहता था। एक बार गाँव के एक बगीचा में एक हाथी आया। महावत उसके साथ था। हाथी एक वृक्ष के नीचे खड़ा हो कर, सूँढ़ ऊपर उठा, बड़े मजे से टहनियाँ तोड़ रहा था और खा रहा था। गाँव के बहुत सारे बच्चे कुछ दूरी पर उसके चारों ओर घेर कर बैठे थे। मैं भी उन्हीं बच्चों में एक था। कुछ जवान और वृद्ध भी हाथी को उत्सुकतापूर्वक देख रहे थे। कुछ लड़के अपने स्वाभाविक आदतवश- "आम के लकड़ी चड़ा-चड़ी, हथिया... भड़ा-भड़ी" जोर-जोर से बोल कर उसे चिढ़ाने

का नाटक कर रहे थे। नासमझ बच्चे ऐसा बोल कर बड़े खुश हो रहे थे। हाथी भी टहनी तोड़ने में मशगूल कभी इधर घूमता कभी उधर। लड़के समझते, अरे, हाथी चिढ़ता है और हमें मारने के लिए दौड़ता है। बच्चे अपने-आप कभी भागते, कभी बैठते, कभी और जोर से पद बोलते।

मेरा एक साथी दूसरी ओर बैठा था। मैं राम-नाम लेता उठा और बीच से होता हुआ उसी ओर जाना चाहता। मुझे ध्यान नहीं रहा कि हाथी बीच में ही है। खड़े लोगों ने हल्ला किया “उधर नहीं जाओ, नहीं जाओ”। जब मैंने हल्ला सुना और जबतक सँभलता, आगे का दृश्य देखकर अवाक् रह गया। मैं हाथी के पास हूँ और हाथी मेरे सिर को सूँढ़ से लपेटे हुए है। मुझ से अब भी मन-ही-मन ‘राम नाम’ का अजपा जप हो रहा था। सब हतप्रभ थे, सब की घिग्घी बँधी थी। अचानक, न जाने कैसे, मैं बैठ गया, और अब मेरा सिर हाथी के सूँढ़ से मुक्त था और मैं दौड़ कर अपने मित्र के पास जाकर खड़ा था। तत्क्षण भीड़ मेरे चारों ओर उत्सुकता से देख रही थी, और मैं पूर्ववत् अविचल भाव से खड़ा था मानो कोई घटना मेरे साथ घटी ही नहीं।

चर्चा के इस क्रम में एक और प्रसंग मुझे बार-बार याद आता है, जो शायद उन्हीं परात्परानुभूतियों की सत्यता को बल देता है। मैं दस-बारह वर्ष का था। साथियों ने एक बार मन बनाया कि बगल वाले गाँव में एक बहुत बड़ा नहर है, वहाँ हमेशा पानी रहता है और धारा भी बहुत तेज नहीं रहती है। हाँ, जब कभी धारा तेज भी हो जाती है, जब ऊपर पहाड़ पर वर्षा होती है, और उसका पानी नहर में आना शुरू हो जाता है। पर, बच्चे कभी-कभार की बात क्या समझें, उन्हें तो अपने काम से काम है, नुख्ता-चीनी के फेरे में वे पड़नेवाले नहीं। ऊहापोह से वे सर्वथा दूर रहते हैं। बस क्या था? एक दिन सब साथियों ने नहर-स्नान का मन बना लिया। सबने आपस में यह भी विचार किया कि सुबह खूब तड़के निकला जाए ताकि घर के लोग देख न सकें। देख लेने पर काम बिगड़ भी सकता है।

दूसरे दिन, अपनी सुनिश्चित योजना के अनुसार सभी साथी तड़के घर के लोगों से आँख बचा कर निकल पड़े। किसी ने अलग से कुछ कपड़े लिए, किसी ने नहीं भी। नदी-तालाबों में बच्चे उछल-उछल कर नंगे भी खूब मजे में स्नान कर लिया करते हैं। सभी साथी गाँव के दक्षिण शिव मन्दिर में एकत्र हुए और हँसते-खेलते नहर-स्नान के लिए चल पड़े। उस समय के हार्दिक उल्लास का क्या कहना? पाँव अपने वस में नहीं थे। कितनी जल्दी उछलते-कूदते, हो-हल्ला करते हमलोग खलीलचक नहर पर पहुँच गये, इसका अन्दाज़ा करना कठिन था। बस क्या था, नहर देखकर मन गदगद हो गया। नहर में धीरे-धीरे धारा चल रही थी, पानी भी थाह भर ही था। साथियों ने एक-एक कर कूदना शुरू किया, कोई नंगे, कोई अधोवस्त्र, पहने। मुझे तैरना नहीं आता था। साथियों की देखा-देखी मैं भी कूदा और उछल कूद कर नहर में नहाने का मज़ा लेने लगा। कोई गोता लगा एक दूसरे को पकड़ रहा था तो कोई तैर कर तेजी से भाग रहा था। समय भी बढ़ा सुहाना था। आकाश में बादल छाये थे और रह-रह कर बूँदा-बाँदी भी हो जाया करती थी। सब कुछ अच्छा लग रहा था। भय का नामोनिशान भी नहीं था। तभी अकस्मात् न जाने कैसे पानी की धारा तेजी से बढ़ने लगी। मुझसे बड़े साथियों ने बात समझी, पर मैं समझ नहीं पाया। प्रायः, अधिकतम साथी ऊपर आ चुके थे, कुछ तैर कर शोर करते निकल रहे थे। और अब, मैं भी बात को समझ गया था। मैं भी तेजी से निकलने का प्रयास करने लगा। पानी छाती से ऊपर कंठ तक आ गया था। इधर-उधर निहारा, कोई कहीं नहीं। एक गहरी निराशा में डूब गया। जोर लगाया। थोड़ा और आगे बढ़ा, पर आगे गड़बा था। उसमें पैर जाते ही मैं पानी में डूबने-उतराने लगा। जीने की आशा खत्म हो चुकी थी। तभी, न जाने कैसे, कोई एक वहाँ आया, जिसने मेरा हाथ पकड़ ऊपर खींच लिया और विना कुछ बोले चलता बना। ऊपर आकर मैंने इधर-उधर नज़र डाल उसे ढूँढने का प्रयास किया, पर कोई नज़र नहीं

आया। मैं यह सोचता घर की ओर बढ़ चला कि आखिर वह कौन था? काश! मैं उसे पूरी नज़रों से देख पाता।

मैं घर आने में डर भी रहा था कि कहीं माँ जानेगी कि मैं नहर गया था और डूब रहा था, माँ बहुत पीटेगी। मन करता था, कहीं छिप जाऊँ। पर, तबतक बात गाँव में फैल चुकी थी कि सुरेश नहर में डूब गया है। घर के लोग छाती पीटते नहर की ओर बढ़ चले। मैं भी बहुत उलझन में डूबा, इत-उत करते गाँव की ओर धीरे-धीरे बढ़ रहा था। हृदय धड़क रहा था कि घर में बात जान जाने पर भैया कितना पीटेंगे, माँ कितना क्रोधित होगी, धीरू चाचा आँखें लाल कर न जाने क्या-क्या बोलेंगे, और कहीं स्कूल तक बात चली जाएगी तो सुग्गा गुरुजी काटों पर सुला छड़ी की बौछार कर देंगे। मैं यही सोचते-सोचते रास्ते में ही एक जगह बैठ गया। तभी मेरा एक दोस्त दौड़कर मेरे पास आ गया। उसने कहा, “तुम्हारे भैया आ रहे हैं, कहीं छिप जाओ।” मैंने ऐसा नहीं किया। बैठकर रोने लगा। तभी भैया दिखाई पड़े। माँ भी दौड़ी हुई आई और छाती से लगा वह भी रोने लगी। भैया भी फूट-फूट कर रोने लगे। सब के साथ मैं घर आया। ढोल-बाजे के साथ दिन में ग्रामता पूजा हुई और रात में सत्यनारायण पूजा। रात में जब मैं सोया, अपरिचित ध्वनि में किसी ने कहा, “पुत्र, मेरा भक्त कभी उदास नहीं होता।”



लेखकों से निवेदन

2015 ई. से धर्मायण को अपने नये रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रस्ताव है। अगले अंक से शोधपरक आलेख के साथ पाठकों द्वारा मिले सुझावों के अनुरूप कुछ स्थायी-स्तम्भ भी प्रकाशित किये जायेंगे। इन स्थायी-स्तम्भों का स्वरूप इस प्रकार है:

1. नमसा विधेम- संस्कृत के श्लोकों में देवस्तुति, हिन्दी अनुवाद सहित, अप्रकाशित
2. देवस्तुति- हिन्दी में छन्दोबद्ध प्राचीन अथवा आधुनिक भक्तिपरक कविताएँ।
3. शोधपरक आलेख
4. प्रेरक-पुरुष। सन्तों, महापुरुषों की जीवनी।
5. प्रेरक-प्रसंग
6. अलौकिक अनुभूति
7. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। आयुर्वेद से घरेलू नुस्खे
8. ज्योतिष-चर्चा
9. आस्था के केन्द्र
10. संस्कृत भाषा-परिचय
11. धार्मिक शंका-समाधान
12. धार्मिक पुस्तक समीक्षा
13. धरोहर
14. पाठकीय प्रतिक्रिया
15. तीर्थयात्रा-वृत्तान्त।

अतः सुधी लेखकों से निवेदन है कि उक्त स्तम्भों के लिए अपने मौलिक तथा अप्रकाशित अप्रसारित आलेख हमें प्रेषित करें। रचनाओं की एक प्रति अपने पास अवश्य रख लें। आपकी रचनाओं में राजनीति की कोई बात नहीं होनी चाहिए। सामाजिक सद्भाव, धार्मिक उदारता, भारतीय गरिमामयी संस्कृति आदि की झलक हमारी पत्रिका की पहचान है। टंकित या हस्तलिखित रचनाएँ स्वीकार्य हैं। टंकित आलेख mahavirmandir@gmail.com पर भेज सकते हैं। लेखक अपना फोटो एवं साहित्यिक परिचय अवश्य भेजें। यदि आलेख में कोई फोटो डाला गया हो तो उसका .jpg फाइल ईमेल से अवश्य भेजें। रचनाओं के लिए मन्दिर की ओर से सम्मानकी की व्यवस्था है। अपना पत्राचार पता अवश्य लिखें।

इनके अतिरिक्त 'धर्मायण' के पाठक नियमित रूप से महावीर मन्दिर समाचार परिक्रमा से भी अवगत होते रहेंगे।

संस्कृत सीखें

(षष्ठ पाठ)

कारक

पिछले अंक में हमलोगों ने संस्कृत वाक्यों में विशेष्य-विशेषण भाव सम्बन्ध को देखा। अब अर्थ समझने में सबसे पहले हमें कारक एवं विभक्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। प्रत्येक वाक्य में क्रियापद का होना अनिवार्य है। वाक्य में क्रियापद के साथ सभी नाम पदों का अलग अलग संबन्ध बना रहता है।

अब यहाँ कुछ प्रश्नों को देखें

1. कार्य किसने किया
2. इस कार्य से क्या फल मिला।
3. इस कार्य में किस साधन का उपयोग किया गया।
4. कार्य किसके लिए किया गया।
5. कार्य क्यों किया गया अथवा अलग होने की क्रिया।
6. कार्य किस जगह किया गया

इन छह प्रश्नों के उत्तर हमें कारक के द्वारा मिल जाते हैं। जैसे सः लेखन्या लिखति- इस वाक्य में लेखनी यानी कलम साधन है, और लिखति क्रिया है। सः विद्यालयं गच्छति इस वाक्य में विद्यालय जाने का कार्य करनेवाला सः है और इस कार्य करने से उसे यह फल मिला कि वह विद्यालय पहुँच गया। इस प्रकार इन्हीं छह प्रश्नों के उत्तर हमें कारक के द्वारा मिलते हैं। संस्कृत में क्रिया के साथ जिसका सीधा संबन्ध हो उसे कारक कहते हैं (क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्।) संस्कृत में कारक छह होते हैं-

कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।

अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणि षट्॥

कर्ता- क्रिया के संपादक को कर्ता कहते हैं। (पा. सू- स्वतन्त्रः कर्ता)

कर्म- क्रिया के द्वारा सबसे अभीष्ट फल को कर्म कहते हैं। (पा. सू- कर्तुरीप्सिततमं कर्म)

करण- क्रिया में सबसे अधिक सहायक साधन को करण कहते हैं। (पा. सू- साधकतमं करणम्)

सम्प्रदान- कर्म के द्वारा जो सबसे बड़ा उद्देश्य होता है, उसे सम्प्रदान कहते हैं। (पा. सू- कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्)

अपादान- जहाँ अलग होने का अर्थ हो, वहाँ जो स्थिर रहे, उसे अपादान कहते हैं। (पा.सू- ध्रुवमपायेऽपादानम्)

अधिकरण- क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं। (पा. सू- आधारोऽधिकरणम्)

इन्हीं कारकों के अर्थ को प्रकट करने के लिए संस्कृत में विभक्तियाँ लगायी जाती हैं। जो हम पिछले पाठ में देख चुके हैं। किन्तु उनके विशेष महत्त्व है इसलिए यहाँ फिर दुहराये जा रहे हैं:

इसके साथ ही निम्नलिखित तालिका को हमेशा ध्यान में रखें-

- | | | | |
|-----------|------------|-----------------|-------------------|
| प्रथमा- | 1. बालक ने | 2. दो बालकों ने | 3. अधिक बालकों ने |
| द्वितीया- | 4. बालक को | 5. दो बालकों को | 6. अधिक बालकों को |

तृतीया-	7. बालक से	8. दो बालकों से	9. अधिक बालकों से
चतुर्थी-	10. एक बालक के लिए	11. दो बालकों के लिए	12. अधिक बालकों के लिए
पञ्चमी-	13. एक बालक से	14. दो बालकों से	15. अधिक बालकों से
षष्ठी-	16. एक बालक का	17. दो बालकों का	18. अधिक बालकों का
सप्तमी-	19 एक बालक में	20. दो बालकों में	21. अधिक बालकों में
संबोधन-	22. हे एक बालक!	23. हे दो बालकों	24. हे अधिक बालकों

यहाँ हमने देखा कि विभक्तियाँ तो सात हैं किन्तु कारक छह ही हैं। षष्ठी विभक्ति अतिरिक्त है। चूँकि सम्बन्ध में शब्दों का क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, इसलिए सम्बन्ध को कारक नहीं माना गया है। अलवत्ता, हिन्दी व्याकरण लिखनेवालों ने सम्बन्ध को भी एक कारक का दर्जा दे दिया है। एक उदाहरण के द्वारा हम इसे समझें- दशरथस्य पुत्रः रामः रावणं हतवान्। यहाँ रावण को मारने में दशरथ का कोई सम्बन्ध नहीं है अपितु राम का सम्बन्ध है और दशरथ का सम्बन्ध राम के साथ है। अतः सीधा सम्बन्ध नहीं होने के कारण सम्बन्ध को कारक नहीं माना गया है।

अब हमलोग इस श्लोक को देखें-

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे

रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः

रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं

रामे चित्तलयः सदा भवतु मे हे राम मामुद्धर॥

श्रीराम की स्तुति में रचित इस श्लोक में सभी विभक्तियों का प्रयोग है:

1. रामो राज्यमणिः सदा विजयते- रामः- श्रीराम, राजमणिः- राजाओं के सिरमौर, सदा हमेशा, विजयते- जय प्राप्त करते हैं। यहाँ राम कर्ता के रूप में हैं अतः प्रथमा विभक्ति लगी हुई है।
2. रामं रमेशं भजे- रामं- श्रीराम को, रमेशं- लक्ष्मी के पति को, भजे- भजन करें।
3. रामेणाभिहता निशाचरचमू- रामेण- श्रीराम के द्वारा, निशाचरचमू- राक्षसों की सेना, अभिहता- पराजित की गयी। यहाँ कर्मवाच्य होने के कारण कर्ता से तृतीया विभक्ति हुई है।
4. रामाय तस्मै नमः। यहाँ नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति हुई है। इसके अतिरिक्त स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं और वषट् शब्द के रहने पर भी चतुर्थी विभक्ति हो जाती है।
5. रामान्नास्ति परायणं परतरं- रामात्- राम से, परतरं- बड़ा, परायणं- दूसरे में निवास करनेवाले
6. रामस्य दासोऽस्म्यहं- अहं- मैं, रामस्य- श्रीराम का दासः- दास, अस्मि-हूँ।
7. रामे चित्तलयः सदा भवतु मे- रामे- श्रीराम में, मे (मम) मेरा, चित्तलयः- मन का विलीन होना, सदा- हमेशा, भवतु- होवे।
8. हे राम मामुद्धर- हेराम- हे श्रीराम, मां- मुझे (मुझको), उद्धर- उबारें।

इस प्रकार, हमें संस्कृत के पौराणिक श्लोकों का अर्थ हमें लगाना चाहिए।

संस्कृत सीखने वालों के लिए सबसे उत्तम उपाय है कि वे वाल्मीकीय-रामायण, महाभारत, पुराण आदि ग्रन्थ को विना अनुवाद की सहायता लिए पढ़ें। उन्हें ऐसी पुस्तक का क्रय करना चाहिए, जिसमें अनुवाद न हो, केवल मूल पाठ रहे। इस प्रकार जब बार-बार मूलग्रन्थ पढ़ेंगे तो धीरे धीरे अर्थ भी सीखते जायेंगे। इन ग्रन्थों की भाषा अत्यन्त सुबोध है।



महावीर मन्दिर के तत्त्वावधान में

आवासीय कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यशाला

महावीर मन्दिर के तत्त्वावधान में इस वर्ष निःशुल्क एवं आवासीय कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन किया गया। यह आयोजन वैशाली जिला के हाजीपुर में कोनहारा घाट में निर्मित विशालनाथ महादेव मन्दिर के परिसर में महावीर मन्दिर के ही द्वारा निर्मित अच्युत-धाम नामक परिसर में सम्पन्न हुआ।

उद्घाटन समारोह

इस शैक्षणिक कार्यक्रम का आरम्भ दिनांक 19 अगस्त को 1.00 अपराह्न में हुआ। इस अवसर पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व वेद विभागाध्यक्ष डा. (प्रो.) हृदयरंजन शर्मा, मुरारका संस्कृत महाविद्यालय, पटना साहिब के व्याकरण विभाग के पं. ब्रह्मानन्द चतुर्वेदी, बिहार एवं झारखण्ड के पूर्व मुख्य सचिव एवं नालन्दा विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डा. विजय शंकर दूबे, महावीर मन्दिर के सचिव एवं कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति आचार्य किशोर कुणाल सहित अनेक गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

इस कार्यक्रम में बोलते हुए डा. हृदयरंजन शर्मा ने कहा कि वेद सृष्टि व मानव जीवन का संविधान है। ज्ञान-विज्ञान की शब्दराशि ही वेद है। समय, स्थान और समाज के साथ सबमें परिवर्तन होता रहा है और आज भी बदलाव की जरूरत है। कर्मकाण्ड वह व्यवहार है, जिसके जरिये हम देवताओं से सम्बन्ध बनाते हैं। लेकिन कुछ विकृतियाँ भी आई हैं, जिन्हें दूर करने का प्रयास किया जाना जरूरी है। विधिसम्मत व्यवहार ही कर्म है और जो इसके विपरीत है वह दुष्कर्म है। उन्होंने उम्मीद जतायी कि कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यक्रम से पुरोहित अपनी योग्यता में निरखार ला सकेंगे।

इस अवसर पर बोलते हुए श्री विजय शंकर दूबे ने कहा कि कर्मकाण्ड को ढोंग व पाखण्ड से

मुक्त रखना आवश्यक है।

कार्यक्रम का उद्देश्य

सनातन धर्म में कर्मकाण्ड का अत्यधिक महत्त्व रहा है। जन्म से मृत्यु तक गृहस्थों के समस्त क्रिया-कलापों एवं ईश्वर आराधना में इसका व्यवहार होता रहा है। यदि हम समग्र दृष्टि से देखें तो इस संसार के दुःख की निवृत्ति के लिए भारतीय अध्यात्म में तीन मार्ग अपनाये गये हैं- ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग एवं भक्तिमार्ग।

प्रथम मार्ग में यह मुख्य अवधारणा है कि परम ज्ञान होने पर संसार के सारे दुःखों की निवृत्ति हो जाती है और वह व्यक्ति जीवन-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। अज्ञानता ही दुःखों का कारण है, अतः अज्ञानता से मुक्त होते ही वह ब्रह्ममय हो जाता है, जहाँ से पुनर्जन्म नहीं होता। इस मार्ग के अधिकारी मुख्य रूप से संन्यासी होते हैं।

द्वितीय कर्ममार्ग की अवधारणा है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् हैं। उनकी कृपा से सांसारिक दुःखों की निवृत्ति तो होती ही है, सांसारिक सुख, जैसे- धन-दौलत, पुत्र-पौत्र आदि भी प्राप्त होते हैं और मृत्यु के बाद स्वर्ग मिलता है। यद्यपि इस मार्ग में मोक्ष की अवधारणा नहीं है। देवता एवं पितरों की कृपा से सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती है। इस मार्ग में बहुदेववाद की अवधारणा है, मूर्तिपूजा विशेष रूप से आदृत है। इस मार्ग में औपचारिकता का महत्त्व है। पूजन सामग्री, पूजन-मन्त्र, शुभ समय, पूजन के मुख्य 16 उपचार आदि की प्रधानता है।

मन्त्रोच्चारण में शुद्धि-अशुद्धि का विशेष महत्त्व है। अशुद्ध उच्चारण होने पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है। वैदिक काल के अनेक उदाहरण हैं, जिनमें यज्ञ करते समय अशुद्ध उच्चारण के कारण यजमान की ही हानि हुई है। एक कथा का उल्लेख महाभाष्यकार पतञ्जलि ने महाभाष्य में किया है कि

वृत्रासुर यज्ञ कर रहा था। उसने 'इन्द्रशत्रुर्वद्धस्व' का उच्चारण किया। उच्चारण में स्वर सम्बन्धी दोष आ जाने के कारण इन्द्रशत्रुः में बहुव्रीहि के स्थान पर कर्मधारय समास का बोध हो जाने के कारण इन्द्र की ही वृद्धि होती गयी।

इस प्रकार कर्मकाण्ड में अशुद्ध उच्चारण नहीं हो, इसका विशेष ध्यान रखा जाता है। चूँकि कर्मकाण्ड में प्रयुक्त वस्तुएँ, जैसे- दूध, दही, मधु, घी इत्यादि हिंसा के विना प्राप्त नहीं हो सकती हैं, अतः संन्यासियों के लिए यह मार्ग निषिद्ध है। विशेष रूप से गृहस्थ इसके अधिकारी हैं।

तृतीय मार्ग भक्तिमार्ग है, जिसमें ज्ञानमार्ग एवं कर्ममार्ग दोनों का समन्वय है। इस मार्ग से मुक्ति की बात कही गयी है, किन्तु इसके नौ अंगों- श्रवण, कीर्तन स्मरण, वंदन, पादसेवन, दासता, पूजन, ध्यान एवं आत्मनिवेदन में कर्ममार्ग के तत्त्व निहित हैं। गृहस्थ सहित सभी आश्रमों के लोग इस मार्ग के अधिकारी हैं तथा इसमें औपचारिकता के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्मकाण्ड के लिए योग्य पुरोहित का होना अनिवार्य है, ताकि वे शास्त्रिय विधि से शुद्ध उच्चारण करते हुए कर्मकाण्ड करा सकें। इसके लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान अनिवार्य है, क्योंकि भाषा के ज्ञान के विना न तो शुद्ध उच्चारण हो पायेगा, न ही पुरोहित उचित विधि से कर्मकाण्ड करा सकेंगे।

वर्तमान में पुरोहितों की स्थिति चिन्तनीय है। अधिकांश पुरोहित न तो संस्कृत भाषा का साधारण ज्ञान रखते हैं, न ही शास्त्रीय विधियों का। अधिकांश यजमान को भी भाषा और विधि का समुचित ज्ञान नहीं होता, अतः पुरोहित जो मन्त्र पढ़ा देते हैं, उसी से वे संतुष्ट हो जाते हैं। किन्तु इस विषम परिस्थिति में कर्मकाण्ड की मूल अवधारणा की हानि होती है। फलतः आज के बुद्धिवादी वर्ग कर्मकाण्ड से दूर होते जा रहे हैं, जो सनातन धर्म के लिए चिन्तनीय है।

वर्तमान में कर्मकाण्ड की एक अन्य समस्या है कि इसमें आगम और निगम का घालमेल हो गया है। ऐतिहासिक साक्ष्य है कि वैदिक काल में सारे कर्मकाण्ड वैदिक मन्त्रों से, यज्ञ एवं हवन के रूप में किये जाते थे। इनमें देवताओं को हविष्य दिया जाता था तथा अग्निदेव हविष्य के वाहक होते थे। वैदिक कर्मकाण्ड-पद्धति का यही स्वरूप था। वैदिक मन्त्रों के विशेषज्ञ ब्राह्मण इसके अधिकारी थे।

बाद में समाज के सभी वर्गों को कर्मकाण्ड से जोड़ने के लिए आगम-पद्धति का प्रचलन हुआ, जिसमें देवताओं को बुलाया जाता था और एक अतिथि के रूप में आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, नैवेद्य आदि से उनकी पूजा की जाती थी। इस आगम-पूजा-पद्धति में मन्त्रों का अधिक महत्त्व न होकर पूजा-सामग्रियों का महत्त्व था। इसके अधिकारी सभी गृहस्थ होते थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी का सूत्र 'जीविकार्थे चापण्ये' पर पतञ्जलि द्वारा जो व्याख्या की गयी है, उससे पता चलता है कि मौर्यकाल में देवताओं की मूर्ति को पालकी में रखकर कहार गृहस्थों के घर-घर जाते थे, जहाँ गृहस्थ लोग उन मूर्तियों की पूजा अतिथि सत्कार की शैली में करते थे और चढावा चढाते थे। यही आगम-पद्धति थी।

इस आगम-पद्धति में बाद में चलकर प्रत्येक उपचार जैसे- आवाहन, अर्घ्य, पाद्य आदि के लिए लौकिक संस्कृत भाषा में पौराणिक मन्त्र का प्रयोग होने लगा, जिसका स्पष्ट अर्थ होता था कि हे देव मैं आपको यह वस्तु अर्पित कर रहा हूँ आप इस ग्रहण करें। पुराणों में पूजा की विधि के प्रसंग में सभी उपचारों के लिए अलग अलग मन्त्र दिये गये हैं। इन मन्त्रों के साथ दो विशेषताएँ हैं कि इनके अर्थ प्रसंग के साथ संगत होते हैं तथा यजमान को पढ़ने में कोई असुविधा नहीं होती है, वे शुद्ध उच्चारण कर लेते हैं साथ ही लौकिक मन्त्र होने के कारण सभी वर्ग के लोग इन मन्त्रों का उच्चारण कर सकते हैं।

आठवीं शती में जयन्त भट्ट के आगम-डम्बर ग्रन्थ से पता चलता है कि ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोग भी पौरौहित्य कर्म आगम-पद्धति से कराते थे और उन्हें समाज में आदर प्राप्त था। बौधायन गृह्यसूत्र में भी नवग्रहों के लिए सभी मन्त्र पौराणिक हैं, जिनसे आवाहन, अर्घ्य एवं पुष्पाञ्जलि दिये जाते थे।

दूसरी ओर भारत के कुछ क्षेत्रों में प्रत्येक उपचार के लिए बीज मन्त्रों का विधान प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक देवता के लिए उनके बीज मन्त्र आगम-परम्परा में विद्यमान थे, जिनका मन-ही-मन जप कर प्रत्येक वस्तु समर्पित करने का प्रावधान था। चूँकि बीजमन्त्र उच्चरित नहीं किये जाते थे अतः पद्धतिकारों ने लिख दिया कि 'मूलेन समर्पयेत्' अर्थात् मूलमन्त्र से समर्पित करना चाहिए। अतः ये मूलमन्त्र पद्धतियों में नहीं आ सके और शेष उच्चरित होनेवाले अंश ही प्रचलन में बचे रहे। जैसे आज भी मिथिला क्षेत्र में यदि भगवान् विष्णु को चन्दन अर्पित करने के लिए मन्त्र इतना ही है-

इदमनुलेपनं भगवते श्री विष्णवे नमः।

यह परम्परा मिथिला, बंगाल, नेपाल, आसाम आदि पूर्वोत्तर भारत में है। इन क्षेत्रों में आगम-पद्धति एवं वैदिक पद्धति के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा है। आगम-पति में न तो वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, न ही वैदिक पद्धति में आगम के मन्त्रों का।

किन्तु अन्य क्षेत्रों में षोडशोपचार पूजन में भी वैदिक मन्त्रों का समावेश कर दिया गया। जो विधि वैदिक काल में थी ही नहीं, उसके लिए वैदिक मन्त्र कहाँ से आयेगे। फलतः भगवान् शिव को विजया चूर्ण अर्पित करने के लिए 'विज्यं धनुः कपर्दिनो' इत्यादि मन्त्र प्रयोग में आ गये, जिनका अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं था, विज्य (अर्थात् जिस धनुष की प्रत्यंचा चढ़ी हुई न हो) को विजया चूर्ण (भाँग का चूर्ण) के साथ जोड़कर मन्त्र व्यवहार होने लगे। इस प्रकार के मन्त्रों के कारण कर्मकाण्ड को अनेक प्रकार की आलोचनाओं का शिकार होना पड़ा।

साथ ही, आगम-पद्धति पर भी पूरा का पूरा ब्राह्मणों का अधिकार हो गया। आगम की जो सार्वजनीन परम्परा थी, उसे धक्का लगा और सामाजिक समरसता को भी आघात पहुँचा। जो आगम-पद्धति समाज के सभी वर्गों को कर्मकाण्ड से जोड़ने के लिए बनी थी, वह एक सीमित क्षेत्र की धरोहर बन कर रह गयी। हलाँकि आज भी मिथिला सहित अनेक क्षेत्रों में पुरानी परम्परा ही कायम रही।

वर्तमान आवश्यकता

आज की परिस्थिति में यह आवश्यक हो गया है कि कर्मकाण्ड के माध्यम से भी समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग सनातन धर्म से जुड़ें। इसके लिए आवश्यक है कि पूजन की मूल भावना को स्थापित किया जाये।

देव-पूजा की एक अवधारणा है कि इसमें एक मुख्य देवता की पूजा होती है तो उसके साथ अन्य अनेक अंग देवताओं की पूजा भी होनी चाहिए। जैसे श्रीराम की पूजा के साथ कुल मिलाकर लगभग 144 पूज्य हो जाते हैं, जिनमें श्री राम के अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, मन्त्रिगण, परिजन, परिकर, परिवार आदि सम्मिलित हैं। इनकी पूजा अंग-देव के रूप में होती है।

साथ ही, पूजन करने का अधिकार प्राप्त करने के लिए आरम्भ में, सूर्यादिपञ्चदेवता, गौरी-गणेश की पूजा अनिवार्य है, विस्तृत पूजा में कलश-स्थापना का भी विधान है, जिसपर वरुण आदि देवताओं की पूजा की जाती है। नवग्रह के साथ अधिदेवता, प्रत्यधिदेवता, विनायक आदि देवपंचक की पूजा भी होती है, किन्तु इन सारे देवों की पूजा अंगदेवता के रूप में गौण रूप से होती है। आज के कर्मकाण्ड की विडम्बना हो गयी है कि पुरोहित इन्हीं अंगदेवताओं की पूजा आडम्बरपूर्वक कराने में अधिकांश समय व्यतीत कर देते हैं और मुख्य देवता की पूजा संक्षिप्त हो जाती है। चूँकि अंग देवताओं की पूजा सभी कर्मकाण्ड में समान रूप से होती है अतः पुरोहितों को इनके मन्त्र प्रमुखता से कण्ठस्थ रहते हैं और ऐसी

स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्थिति से उबरना आवश्यक है। वहाँ अपेक्षा की जाती है कि अंगदेवताओं की पूजा संक्षिप्त में पञ्चोपचार से हो और मुख्य देवता की पूजा षोडशोपचार से हो।

इस परिस्थिति में कर्मकाण्ड का प्राचीन स्वरूप स्थापित करने के लिए महावीर मन्दिर के द्वारा दिनांक 19 अगस्त से 28 सितम्बर तक कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यशाला का आयोजन किया गया। इस निःशुल्क आवासीय कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यशाला में ऐसे प्रशिक्षुओं को सम्मिलित किया गया जो वर्तमान में कर्मकाण्ड करा रहे हैं और उन्हें अध्ययन करने का कभी अवसर नहीं लगा है।

इन प्रशिक्षुओं को सर्वप्रथम संस्कृत भाषा का सामान्य ज्ञान दिया गया। शब्दरूप, धातुरूप, सन्धि-विचार, समास विचार का सामान्य ज्ञान दिया गया।

कर्मकाण्ड कराने के लिए अमरकोष के दो वर्ग- स्वर्गवर्ग एवं ब्रह्मवर्ग महत्त्वपूर्ण हैं। स्वर्गवर्ग में देवताओं के नाम हैं तथा ब्रह्मवर्ग में यज्ञ से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों का संकलन तथा उपकरणों के नाम हैं। इनके नाम को अभ्यास करना कर्मकाण्डियों के लिए अपेक्षित है। इस कार्यशाला में इन काण्डों के शब्दों को कण्ठस्थ कराया गया तथा इनके बारे में जानकारी उपलब्ध करायी गयी, ताकि प्राचीन पद्धति से ये परिचित हो सकें।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि महावीर मन्दिर के द्वारा कर्मकाण्ड को सुलभ एवं प्रामाणिक बनाने के लिए काफी पहले से प्रयास किये जा रहे हैं। इसके अन्तर्गत महावीर मन्दिर के द्वारा बृहत् सत्यनारायण पूजा प्रकाश, जगद्गुरु रामानन्दाचार्य त रामार्चन पद्धति, रुद्रार्चन पद्धति आदि का प्रकाशन किया गया है। साथ ही, महावीर मन्दिर में विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड जैसे- जन्ममंगलानुष्ठान, हनुमत्-उपासना, रोगशान्ति, ग्रहशान्ति आदि के लिए प्रामाणिक पद्धति का निर्माण किया गया है, जिससे मन्दिर में हजारों लोग पूजा करा चुके हैं। इन

पद्धतियों से भी प्रशिक्षुओं को अवगत कराया गया। इन पद्धतियों में जो कथाएँ हैं, उनका उच्चारण कराया गया।

दुर्गापूजा पद्धति के साथ दुर्गासप्तशती के पाठ का भी अभ्यास कराया गया। वैदिक कर्मकाण्ड में विभिन्न प्रकार की वेदियाँ बनायी जाती हैं जैसे- सर्वतोभद्र, लिंगितोभद्र, चतुर्लिंगितोभद्र, ग्रहवेदी आदि। इन वेदियों के निर्माण की विधि बतलायी गयी तथा प्रायोगिक रूप से भी अभ्यास कराया गया।

इस कर्मकाण्ड प्रशिक्षण कार्यशाला में प्रशिक्षुओं की दिनचर्या पूर्णतः आध्यात्मिक थी। वे प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में उठते थे। नित्यक्रिया से निवृत्त होकर सन्ध्यावन्दन आदि नित्य कर्म करने के पश्चात् प्रातः 7 बजे विशालनाथ महादेव मन्दिर में रुद्राभिषेक के लिए प्रस्तुत हो जाते थे। कार्यशाला के आरम्भिक दिनों में प्रशिक्षक सह समन्वयक पं. भवनाथ झा के द्वारा अभिषेक कराये गये किन्तु बाद में एक एक प्रशिक्षु स्वयं रुद्राभिषेक करते थे तथा अन्य सभी प्रशिक्षु मन्त्रोच्चारण करते थे। इससे उन्हें सर्वांगीण लाभ मिला।

इसके बाद अल्पाहार लेकर प्रातः 9 बजे से 12 बजे तक एक कक्षा का संचालन होता था जिसमें पूर्वनिर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार एक एक विषय पर पढाया गया। कण्ठस्थ करने के लिए भी कक्षा में ही प्रावधान था। आरम्भ में अनेक प्रशिक्षुओं को संस्कृत पढने में बड़ी कठिनाई हुई किन्तु अनुभवी प्रशिक्षक ने एक एक वर्ण का उच्चारण कराकर उन्हें संस्कृत का उच्चारण सिखाया। कुल 21 प्रशिक्षुओं में से लगभग 15 प्रशिक्षुओं की ऐसी ही स्थिति थी, जिनमें से कम से कम 12 प्रशिक्षु संस्कृत उच्चारण करने में प्रवीण बनाये गये। यह कार्यशाला की उपलब्धि रही।

तीन घंटे के प्रथम सत्र के बाद दूसरा सत्र 2.30 बजे से 4.30 तक चलता था। इस प्रकार प्रतिदिन 5 घंटे का अध्यापन चलता रहा।

इस कार्यशाला में निम्नलिखित विद्वानों ने अध्यापन का कार्य किया-

- 1 पं. भवनाथ झा- अमरकोष, संस्कृत भाषा, उच्चारण प्रक्रिया, आदि।
- 2 पं. सुरेशचन्द्र मिश्र- संस्कृत भाषा एवं व्याकरण।
- 3 पं. मार्कण्डेय शारदेय- वैदिक कर्मकाण्ड का सैद्धान्तिक ज्ञान।
- 4 पं. सत्येन्द्र पाण्डेय- वैदिक मन्त्रोच्चारण।
- 5 पं. गिरिजानन्दन तिवारी- प्रायोगिक कर्मकाण्ड।
- 6 डा. रामविलास चौधरी- वैदिक एवं लौकिक वाङ्मय का इतिहास।

दिनांक 28 अक्टूबर को इसका समापन समारोह आयोजित किया गया, जिसमें संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति डा. नीलिमा सिन्हा, संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा के ही धर्मशास्त्र विभागाध्यक्ष

डा. श्रीपति त्रिपाठी, पटना विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डा. रामविलास चौधरी, आर.एन. कालेज हाजीपुर के भूतपूर्व दर्शन विभागाध्यक्ष डा. एस. एन. चौधरी के साथ महावीर मन्दिर के सचिव आचार्य कुणाल महोदय उपस्थित थे।

इस कार्यक्रम की विशेषता यह रही कि इसका संचालन प्रशिक्षुओं में से ही पं. आशुतोष कुमार पाण्डेय ने सफलतापूर्वक किया। कार्यक्रम में सबसे पहले कार्यशाला के समन्वयक पं. भवनाथ झा ने कार्यशाला के स्वरूप पर प्रकाश दिया तथा प्रशिक्षुओं ने भी अपने विचार रखे। एक प्रशिक्षु श्री दीपक कुमार पाण्डेय ने कहा कि यहाँ आने से हमें बहुत अधिक लाभ हुआ है। यहाँ जितनी सामग्री हमें दी गयी है, उन्हें कण्ठस्थ कर प्रयोग में लाने के लिए कम से कम छह माह का समय अपेक्षित होगा।



सुल्तानगंज में अजगवीनाथ मन्दिर का चित्र (1824ई.)

Lieut. colon Forrest द्वारा लिखित पुस्तक A Picturesque Tour Along the Rivers Ganges and Jumna, In India में प्रकाशित

पुस्तक-समीक्षा

पद्म-पराग (काव्य-संकलन); रचयिता: ए.पी. शर्मा 'पंकज'; प्रकाशक: डॉ. माधवेन्द्र प्रसाद सिंह, क्लासिक अपार्टमेंट चौथा तल्ला, फ्लैट नं.-4; के.सी. 5/1, अश्विनी नगर, वागुईआटी कोलकाता- 700159; मुद्रक : राजन कम्प्यूटर, मुक्ताराम बाबा स्ट्रीट, कोलकाता-700007; संस्करण : प्रथम, 2013 ई.; पृ. सं. 62; सजिल्द मूल्य : एक सौ पचास रुपये।

'पद्म-पराग' कविवर अम्बिका प्रसाद शर्मा 'पंकज' (संक्षिप्त नाम-रूप ए.पी. शर्मा 'पंकज') की नव प्रकाशित काव्यकृति है। इसमें कविश्रेष्ठ शर्मा की कुल पचास कमनीय कविताएँ संकलित हैं। प्रायः सभी कविताएँ रसलिप्सु पाठकों की मानसिकता को आपाततः आवर्जित कर लेने की विशेषता से विमण्डित है। प्रायः प्रत्येक कविता में शाब्दिक प्रयोगजन्य कलात्मकता एवं रूपात्मक भाव-सौन्दर्य की प्रधानता प्राप्त होती है। इन यथासंकलित कविताओं में भाव-पक्ष की प्रभावकता और भाषिक सौन्दर्य की रसमयता का सहज बोध होता है। शब्द, अर्थ और भावों का त्रैत सहृदय पाठकों की अन्तर्वृत्ति को सहसा अनुकूलित कर लेने की क्षमता से सम्पन्न है।

प्रस्तुत काव्यकृति में प्रकृति और मानव-जीवन का समन्वय हृदय के समाराधन में आशंसनीय भूमिका का निर्वहण करता है। प्रबुद्ध काव्यकार श्रीपंकज की कविताओं में अनुभूति की गम्भीरता के साथ-साथ उसकी मनोरम अभिव्यंजना सुलभ हुई है। साथ ही कला भावना और विचार का समेकित रूपमें मनोहारी समाहार हुआ है। कवि ने काव्यानुभूति के स्थिरीकरण के निमित्त जिन प्रतीकात्मक काव्योपकरणों का उपयोग किया है, उससे इनकी काव्यकलता ततोऽधिक हृदयग्राहिणी बन पड़ी है।

मनोमोहक पार्श्वभूमि, प्रकृति का भावोद्बोधक चित्रण तथा वातावरण-निर्माण की सजीवता से इस संग्रह की कविताओं में अपेक्षित मनोज्ञता का समावेश हुआ है। ज्ञानोन्मेषक वैचारिकी एवं भावोन्नायक शब्द-गुम्फन की विधि की दृष्टि से कवि की यथा संगृहीत कविता में 'यह मेरा अनुराग'; 'प्रतीक्षा',

मित जाने दो', 'यह भी क्या जीवन है। 'अन्तर्द्वन्द्वः' 'वह युग भयावह 'वह युग भयावह होता है'; 'नहोगा', 'अतृप्त पर स्वयं रहा' आदि उदाहरणीय हैं, साथ ही समसामयिक और प्रासंगिक की।

कवि पंकज द्वारा अंकित शब्द-चित्र की प्राणोन्मेषकता इनकी काव्यकला की तात्त्विक असाधारणता है। व्यक्ति अथवा प्रसंग की चित्ताकर्षक चित्रात्मकता इनके काव्य की उत्तमता को प्रतीकित करती है। इस काव्य की छन्दोबद्धता में गीतात्मकता की ललित लय का विन्यास मनोमुग्धकर है। परन्तु, कवि छन्दोमुक्त एवं छन्दोबद्ध दोनों प्रकार की काव्यकर्तृता में कुशल है।

कवि पंकज का काव्य केवल काव्यानुकूल विषयों तक ही सीमित नहीं है, अपितु काव्य के निर्माण में इन्होंने अपने स्वभाव संस्कार और देश-काल की परिस्थितियों का भी सूक्ष्मता से मोहक आकलन किया है।

शब्द-सौष्ठव की महनीयता और उसके प्रयोग के औचित्य एवं उक्ति-वैचित्र्य, तीनों के समेकित सुष्ठु प्रयोग से कवि का काव्य-नैपुण्य केवल आशंसनीय नहीं, प्रशंसनीय भी है। यत्र-तत्र प्रायोगिक शैथिल्य या अपाणिनीय शब्द-प्रयोग के बावजूद काल के काव्यशिल्प की उत्तमता असुरक्षित नहीं हुई है। कुल मिलाकर यह काव्य-संग्रह हिन्दी-काव्य जगत् में एक अभिनव रमणी निक्षेप के रूप में स्वीकृत होगा, ऐसी आशा है।

- साहित्य वाचस्पति श्रीरंजन सूरिदेव